

अग्निःश्वीतिःश्वीतिरग्निः—स्वाहा—इसके मौनहेतु के बारे में कहा है कि जो-जो मन्त्र-आहुतिप्रयोग यज्ञ में देव करते उसी-उसी का अनुकरण अमुर भी करने लगते और उनकी समता सम्भाषण करके पराजय को प्राप्त नहीं हो पाते थे। देवों ने अमुरों की अनुकरणदृष्टि को जानकर साधकसमीप इस तीसरी आहुति को मौन करके आहुति का प्रयोग किया। अमुर इस मौनाहुति को जान न सके और पराजय को प्राप्त हो गये। देवों की विजय हुई, अब देवशक्तियों की विजय एवं आमुरी शक्तियों के पराभव के लिए मौन यन्त्राहुति को उपयोगिता है जो कि व्यावहारिक जीवन में हमारे लिए उपयोगी है।

प्रजापति के लिए मौनाहुति का प्रयोजन—

प्रजापत्य मौनाहुति के प्रसन में मलय में एक आश्रयान विद्या है कि—एक बार मन और वाणी में यह विवाद उत्पन्न हुआ कि—उसने मे कोन बड़ा है? दोनों ही अपने को बड़ा और दूसरे को छोटा कहने लगे। जब परस्पर इस विवाद का निर्णय न हो सका तो मन और वाणी दोनों प्रजापति के पास निर्णय के लिए पहुँचे। प्रजापति ने दोनों को पुश्तियों को मूला और निर्णय किया कि जो कुछ मन सोचता है वाणी उसी को बोलती है, मन जितको नहीं सोचता, उसे वाणी कहने में असमर्थ रहती है, अतः मन ही वाणी से श्रेष्ठ है। वाणी इस निर्णय को मूलकर असन्तुष्ट हुई और उसने भी अपना यह निर्णय अविष्णु के लिए कर दिया कि—यज्ञ में जब प्रजापत्याहुति का मन सोचने का अवसर आया तो वह बोलैसी ही नहीं। मन श्रेष्ठ है तो वही बोले। मन नेचरीवाणी से अविष्णु के अनाहयोग के कारण कोपने में असमर्थ है, अब मौनरूप के मन में मन का उन्मत्तत्व मन के द्वारा करके यह आहुति दी जाती है अर्थात् वाक्शक्ति के प्रभाव में मानसिक वाणी से अल्पना महत्त्वपूर्णे कार्य तथा मूल कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं और मूल मन का प्रभाव भी अपना महत्त्वनिर्देश रखता है यह ज्ञान होता है। यह आहुति केवल मन से ही देनी चाहिए अन्य पदार्थों से नहीं।

उपहारशक्तियों में भी मन का सहयोग चाहिए—

वाक्शक्ति का मूल केन्द्र मन ही है। अपने इस केन्द्र में वाणी मानसरूप से प्रतिष्ठित हो जाती है। मन को उन्मत्तरूपकता को मन से संयुक्त रखना चाहिए और मन को मन से संयुक्त करने हुए किया

करनी चाहिए । प्रजापति परमात्मा के आराधन-कार्य में वाणी से अधिक मन समर्पण है, अतः यज्ञादि कर्म में बाह्य क्रियाओं के साथ मन का भी योग आवश्यक है ।

प्रजापति देवता के एक ही मन्त्र में वाणी मौन रहेगी, अन्य में नहीं—

प्रजापति देवता के लिए आहुति देने के अन्य भी मन्त्र हैं परन्तु उन मन्त्रों के उच्चारण के समय वाणी मौन धारण नहीं करेगी; जब केवल—**प्रजापतये स्वाहा**—ऐसा प्रयोग प्राजापत्याहुति रूप में प्रयुक्त होगा तभी वाणी मौन रहेगी । आज्यभागाहुति में जो प्रजापति की आहुति है वह प्राजापत्याहुति नाम से नहीं अपितु आज्यभागाहुति नाम से होम का अंशरूप है, अतः वहाँ वाणी मौन नहीं होती है । □

पूर्णाहुति

पूर्णाहुति कौन करे ?

यज्ञ की पूर्णाहुति करने का अधिकारी वही है जिसने उस यज्ञ का अग्न्याधान किया हो और आरम्भ से अन्त तक यज्ञ सम्पन्न भी किया हो। पूर्णाहुति में प्रायः अन्य लोग भी आहुति प्रदान करने हैं। इसकी आवश्यकता नहीं है। किसी संस्कारविशेष में तो अन्य जनों की जो संस्कार देखने जाये हैं आहुति देनी ही नहीं चाहिए। आहुति देने का अधिकार केवल यजमान और होना ही है। जिसने यज्ञ करने एवं यजमान बनने का संकल्प ही नहीं किया, जिसने ऋत्विजों का वरण ही नहीं किया और जिसका ऋत्विज् पुरोहितत्व में वरण ही नहीं, उनको यज्ञमाला में प्रवेश का भी अधिकार नहीं होता—किर आहुति देने का अधिकार कौन हो सकता है ? ऐसे सब दशकों को यज्ञमाला के समीपस्थ मरण में ही दशक बनकर बैठने का अधिकार है। गार्हपत्य-अग्नि में किये जानेवाले यज्ञकर्मों में तो किसी दूसरे को कदापि आहुति देने का अधिकार नहीं होता। एक ही यज्ञाग्नि में दूसरे की आहुति नहीं होती, अतः यजमान को ही पूर्णाहुति करने का अधिकार है।

सामूहिक यज्ञों की पूर्णाहुति में—

सामूहिक यज्ञकार्यों में जिस यजमान द्वारा या जिन यजमानों द्वारा यज्ञ का संकल्प कराया जाए, जिसने अग्न्याधान कराया जाए, या जो आहुति देने को बैठाने जाएँ वे ही पूर्णाहुति-पर आहुति देने के अधिकारी होते हैं। जिसने आरम्भ ही नहीं किया वह समाप्ति का अधिकारी नहीं है। जिसने अन्त ही नहीं किया हो उसके नामकरण आदि भी सम्भव नहीं होते। उसी प्रकार अग्न्याधान-विद्यारहित व्यक्ति को पूर्णाहुति की पाश्चात्ताप नहीं होती।

अनेक यजमानों की स्थिति में—

जिन यज्ञों के अनेक यजमान होते हैं, उनमें भी एक ही यजमान कार्य करने का अधिकारी होता है। अन्य यजमान यज्ञ के संकल्प-समय में उस प्रधान यजमान के पीछे कर्मणः बैठ जायें और वे अपने दक्षिण

हस्त को अपने से पूर्व के यजमान के दक्षिण कंधे पर रखेंगे। इस प्रकार संकल्पविद्या ही जाने के पश्चात् वे कमवद्ध यज्ञमण्डप में आसीन होंगे और यज्ञ के साथ प्रतादि का यज्ञ के पूर्ण होने तक पालन भी करेंगे। ऐसे प्रती यजमानों को पूर्णाहुति में आहुति देने की पाषाण किसी सीमा तक मान्य हो सकती है, सर्वथा नहीं, क्योंकि प्रतिनिधित्व करनेवाले यजमान का ऐसी स्थिति में प्रतिनिधित्व अन्वयस्थित स्थिति में हो जाता है। यह भी एक दोषपूर्ण स्थिति है, अतः सामूहिक यज्ञों में भी पूर्णाहुति के लिए खुलेआम भरती बिना कुछ विचारें नहीं करनी चाहिए और निवृत्त यजमान से ही पूर्णाहुति करानी चाहिए। नित्य नये यजमानों को बदलना या कुछ-कुछ आहुतियों के पश्चात् प्रतरहित हविप्रदानों को परिवर्तित करना उचित नहीं है।

पूर्णाहुति मन्त्र

पूर्णाहुति-प्रकरण में अनेक मन्त्र बोलें जा सकते हैं, परन्तु इस कर्म में जिस मन्त्र से सबसे अन्त में आहुति प्रधान की जाती है वही पूर्णाहुति मन्त्र कहलाता है। यज्ञ की सम्पूर्णता के लिए सबसे अन्त में प्रजापति की आहुति दी जाती है, अतः पूर्णाहुति का मन्त्र—**सर्वं मे पूर्णं**, स्वाहा—भी प्रजापति देवता का है।

प्रजापति के दो रूप—

प्रजापति के दो रूप हैं—(१) निरुक्त और (२) अनिरुक्त। निरुक्त रूप को प्रकट करते हुए, निरुक्त प्रजापति के लिए आहुति—**सोम प्रजापतये स्वाहा**—से पूर्णाहुति-प्रकरण में मौनरूप में दी जाती है और अनिरुक्त प्रजापति के लिए अनिरुक्त रूप में—**सर्वं मे पूर्णं**, स्वाहा—इस मन्त्र से आहुति दी जाती है, इसमें प्रजापति शब्द नहीं है। निरुक्त का तात्पर्य निर्वचनीय अर्थात् जिसका हम वर्णन कर सकते हैं और अनिरुक्त का तात्पर्य अनिर्वचनीय से है जिसका हम वाणी से वर्णन नहीं कर सकते। परमात्मा प्रजापति है।—सह यज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोधास प्रजापतिः, गीता के इस श्लोक में प्रजापति परमात्मा के द्वारा सब प्रजाओं की उत्पत्ति काही गई है, अतः सभी यज्ञों के अन्त में प्रजापति की आहुति अनिवार्य रहती है। अथाथ-वाङ्मय में—**सर्वं मे पूर्णं**, स्वाहा—का विवेचन करते हुए बताया है कि—**सर्वं मे प्रजापतिः** अर्थात् सर्वं, समस्त प्रजापति ही है। वह

अभिरक्षित होने से सर्वत्र व्याप्त है, अतः—सर्वत्र वे पूर्ण^० स्वाहा—से यज्ञ की समाप्ति एवं पूर्णता की जाती है।

पूर्णाहुति के प्रकार—

दैनिक यज्ञों की एवं एकदिवसीय यज्ञों की पूर्णाहुति उसी दिन हो जाती है। जो यज्ञ दो या दो से अधिक दिन के होते हैं, और जिसकी पूर्णता किसी निश्चित दिवस की की जाती है, उन यज्ञों में भी पूर्णाहुति प्रतिदिन करनी चाहिए।

ऐसे यज्ञों में निम्नलिखित होमाहुति और उसके पश्चात् प्राजापत्याहुति देकर, यज्ञ की पूर्णाहुति मानना भी पूर्णाहुति का एक प्रकार है। दूसरा प्रकार यह है कि पूर्णोक्त आहुतियों के पश्चात्—**सर्वत्र दिवो०** (यजु- ७।२८) इस मन्त्र की तीन बार बोलते हुए, यज्ञ की धारा अविच्छिन्न रूप से अग्नि में प्रदान करे अथवा—**सर्वत्र वे पूर्ण^० स्वाहा**—की तीन बार बोलकर तीन यज्ञाहुति दे दे। यज्ञ के मध्य दिवों में तीनों प्रकारों में से कोई भी प्रकार किया जा सकता है, परन्तु यज्ञ की समाप्ति पर जो पूर्णाहुति उच्यते—**सर्वत्र वे पूर्ण^० स्वाहा**—से आहुति देकर यज्ञ को पूर्ण करना ही होगा।

पूर्णाहुति कैसे करे ?

शौभिन्युक्तमूत्र [१।२।२८] के अथ यज्ञसमाप्त्यन्ते पुर्णहोमः—इस मूत्र की टीका में नीलकंठ का विष्णु उल्लेख है—

अथ पूर्णाहुति दशाद् गन्धपुष्पफलाभ्यस्ताम् ।

गाधस्तामूखंकाशयन् समवापद्यन्करिह पुनः ॥

इस उक्तोक्त में चार होकर पूर्णाहुति का विधान किया है। बाल्यावन ने भी—अथ यज्ञसमाप्त्यन्ते उखंकाशयः । लिट्—चर होकर पूर्णाहुति का विधान किया है। प्राक्श्लोणिनी के वृत्त २१४ पर—

उखाद्य उखाद्यपूर्णा च शीघ्रिष्य यदात्मनः ।

नवेदा चर होकर ही पूर्णाहुति करे, लेकर नहीं—यह कहा है, अतः पूर्णाहुति चर होकर करनी चाहिए। पंचमहायज्ञों के अविच्छिन्न विद्यमान यज्ञों में और चर यज्ञों में जो व्यावहारिक दृष्टि से चरि अथवा चरक प्रतीत होता है।

पूर्णाहुति के लिए श्रुती का प्रयोग करें—

युञ्ज या सुर्वा आहुतमात्रं तन्वी होती है। उसके अर्थान्त में हाथ

की अग्निबली के तुल्य गहरा खात होता है और हंस के मुख के सदृश उसके मुख का अग्रभाग होता है। उसकी घृत से पूर्ण करके दक्षिण हाथ से यजमान एवं यजमान-बली उठाकर खड़े होकर पूर्णाहुति के लिए अग्नि में मन्त्रपूर्वक घृतधारा का सेवन करें। सूची बनाने का विधान यज्ञपात्रों में संस्कारविधि में लिखा है। उसका उपयोग पूर्णाहुति के अवसर पर करें। कुछ लोग पूर्णाहुति के लिए बलनी का प्रयोग करते हैं। उसका विधान कहीं नहीं है। बसोर्धरा हीम होता है। उसमें जल तक बह होय चलता है तबतक अविच्छिन्न घृत की धारा अग्नि में पड़नी चाहिए। उसमें भी बलनी का विधान नहीं है। उस यज्ञ में तो घृतपूर्ण घट से कार्य अच्छी प्रकार सम्पन्न होता है, क्योंकि बसोर्धरा होम में—घग्निने स्वाहा—सीमाय स्वाहा—के सद्यः छोटे-छोटे यज्ञ हैं जिनमें अति योधता से अनेक आहुतियों की पूति घृतपूर्ण घट की अविच्छिन्न घृतधारा से ही सम्भव होती है। तालाब यह कि बलनी का पूर्णाहुति के लिए प्रयोग शास्त्रानुमोदित नहीं है।

खड़े होकर आहुतियों का विधान—

यज्ञ में अनेक अवसरों पर खड़े होकर आहुतियाँ दी जाती हैं और खड़े होकर कुछ क्रियाएँ भी की जाती हैं। कुछ व्यक्तियों ने यह समझा है कि यज्ञ में खड़े होकर आहुति की क्रिया या अन्य क्रिया सर्वोत्तम कार्य है, परन्तु संस्कारविधि पर दृष्टिपात करने से यह झंका निर्मूल हो जाती है।

वेदारम्भ में खड़े होकर समिधादान का विधान बालक के लिए आता है। विवाह में नावाहीम खड़े होकर ही किया जाता है तथा अन्य भी अनेक क्रियाएँ खड़े होकर करने का विधान संस्कारविधि में आता है, अतः खड़े होकर पूर्णाहुति का जो विधान उपलब्ध होना है उसको अबाध नहीं किया जा सकता, वह भी आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

यज्ञ नमस्कृत्य

यज्ञ धीर नमस्कार—

यज्ञ में या यज्ञसमाप्ति पर नमस्कार की क्रिया करनी चाहिए । यज्ञ के साथ नमस्कारक्रिया का सम्बन्ध उक्त वेदवाक्य प्रकट कर रहा है । प्रायः ऐसी विचारधारा लोगों में व्याप्त हो गई है कि यदि यज्ञ में हाथ जोड़कर नमस्कार की क्रिया की जाएगी तो वह वेदि के सामने हाथ जोड़ने की क्रिया हो जाएगी और वह भी मूर्तिपूजा की क्रिया के तुल्य हो जाएगी । यदि परमात्मा के लिए या परमात्मा के नाम पर किसी भी स्थान पर किसी भी प्रकार से हाथ जोड़ने की क्रिया की जाएगी तो उससे अन्धधृष्टा को बल मिलेगा और वह भी मूर्तिपूजा या जड़पूजा हो जाएगी । मूर्तिपूजा या जड़पूजा के आशेष के भय के कारण ही—हाथ जोड़ भुक्ताय मस्तक बन्धना हम कर रहे—इस मंत्र को यज्ञ की प्रार्थना में से निकाल फेंका है, परन्तु हमारा इस प्रकार का भिन्नत वास्तविक नहीं है, अर्थात् प्रतिक्रियात्मक है । प्रतिक्रियात्मक चिन्तन से कभी-कभी हम वास्तविकता से भी विमुख हो जाते हैं ।

परमात्मा के लिए नमस्कार करना मूर्तिपूजा नहीं है—

एक समय या हम भी ऐसे ही प्रतिक्रियात्मक विचारों में प्रभावित होकर यज्ञवेदि के सम्मुख हाथ जोड़ने आदि शब्दों के उच्चारण का प्रयत्न विरोध करते थे, परन्तु अब हमें महर्षि दयानन्द का नेत्र वेदि के सामने हाथ जोड़ने का मित्रा तो हमें चुप होना पड़ा और मानना पड़ा कि यज्ञवेदि के सामने हाथ जोड़ने का तात्पर्य मूर्तिपूजा से क्यों नहीं ? हम अपनी उपरामना को दूषित या अपूर्ण इसीलिए क्यों करें कि हम हाथ जोड़ने तो घुमरे फिर हमें क्या कहें ? हमें अपना सत्य कर्तव्य करना चाहिए ।

महर्षि दयानन्दजी द्वारा सन्ध्या एवं यज्ञ में नमस्कार का ध्येय—

महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ने संस्कारविधि के संव्यास प्रकरण में लिखा है—

“आचमन और प्राणायाम करके हाथ जोड़ वेदि के सामने नेत्र-उन्मीलन करके मन से ‘‘मन्त्रों को जपे ।’’ इन शब्दों को पढ़ने के बाद

विचारना चाहिए कि महर्षि मूर्तिपूजा के विरोधी थे, क्योंकि वह वेद में नहीं है, परन्तु परमात्मा के लिए नमस्कार करने का विषय कभी नहीं करते थे, क्योंकि वेद में—**यत् नमश्च—**जाता है। अनेक मन्त्रों में नमस्कार है। सन्ध्या के मन्त्रों में भी है और सन्ध्या के अन्त में—**नमः संनवाद्य च—**मन्त्र है ही। इस मन्त्र के ऊपर महर्षि ने लिखा है—**तत् ईश्वरं नमस्तुभ्यम्—**यह समर्पणविधि के परचातु है। आया में भी वे लिखते हैं कि “इसके पीछे ईश्वर को नमस्कार करें” और इस मन्त्र के अर्थ के अन्त में वे लिखते हैं—“इसको हमारा वारम्बार नमस्कार है।”

इसी प्रकार सन्ध्या के उपस्थानमन्त्रों के भाष्य के अन्तिम शब्द विशेष मननीय है जो कि निम्न है—

सर्वे मनुष्याः परमेश्वरमेवोपासीरन् । वातरमाद्यव्यसोपासनां करोति स इन्द्रियाराधो सर्वज्यासर्वेन्द्रियाहंशिव इति निश्चयः । कृताञ्जलित्वन्तश्चदानुभूत्स्वैतंमन्त्रैः स्तुयन् सर्वकालसिद्धाय सर्वे परमेश्वरं प्राप्सेत् ॥

सब मनुष्यों को परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिए। जो कोई उस परमात्मा को छोड़कर अन्य की उपासना करता है वह अपने इन्द्रियसुखों में रत होने से सर्वभयघुवत् सब शिष्टजनों की जानना चाहिए। हाथ की अञ्जलियों को जोड़कर अत्यन्त भज्जानु होकर इन (उपस्थान) मन्त्रों से स्तुति करते हुए सर्वकाल में सिद्धि के लिए परमेश्वर से प्राप्सेता करें।

वेद और महर्षियों के शब्दों पर चर्चा—

यहाँ कृताञ्जलि शब्द नमस्कार की मुद्रा या कृताञ्जलि-मुद्रा का ही वाक्य है। यदि महर्षि को हाथ जोड़ने से भय होता और इसे मूर्तिपूजा का ही शोका मान्यते से कभी भी उपर्युक्त स्थलों पर हाथ जोड़ने के विषय नहीं लिखते। संस्कारविधि और पञ्चमहाव्यञ्जिभिः दोहों में ही परमात्मा के लिए नमस्कार-मुद्रा का विधान है, अतः हमें अपने प्रतिपिताचारों के अन्तर्गत-प्रकार में परिष्कार करना हीमा और मोक्षना होगा कि नहीं हम कुछ विचरित मार्ग से चिन्तन करके अपनी उपासना की ही तो विकृत एवं भ्रष्ट नहीं कर रहे हैं? महर्षि के उपर्युक्त शब्दों के सम्मुख सर्व-चित्तों की आश्चर्यकता नहीं रहती। इन वाक्यों के दोष लेने पर और कई वर्षों तक मन में आन्दोलन ही।

रहने पर यही निश्चय हुआ कि हमें अपने विचारों के पीछे नहीं चलना चाहिए, बल्कि वेद और महर्षियों के पीछे चलना चाहिए।

महर्षि कावाचन का यज्ञान्ति के सम्मुख हाथ जोड़कर प्रार्थना करने का विधान—

स्वयं महर्षि दशानन्दो वेद ओर महर्षियों के पीछे चलते हैं। महर्षि कावाचन ने कामदेव्य मान के पदवान् कित गीति से यज्ञवेदि के सामने प्रार्थना करें, इसके लिए निम्न प्रकार लिखा है—

स्वष्टुतायां वीथदमापोऽग्निं कृताञ्जलिपुटस्ततः ।

धातुरारोपमेवैवयं प्रार्थयेद् द्विषोदत्तम् ॥

यहाँ पर जो उन्नी यज्ञान्ति के सामने हाथ जोड़कर प्रार्थना करने का विधान है और उसका पत्र—**दीर्घायुर्हं च भवति—**विशेष से दीर्घायु प्राप्त होती है, यह बताया है तथा आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य को प्रार्थना करने का कहा है। यज्ञ के अङ्गापूर्वक अनुष्ठान से और उसकी किसी क्रिया का असाधन न करने से अक्षय्य दीर्घायु होती है। **महर्षि दशानन्दो द्वारा वेदभाष्य में यज्ञ को समस्कार का विधान—**

सर्व्वेद के [२।२०] के भाष्य में पूर्व्वमान को अनुपूर्व्वत लेकर महर्षि लिखते हैं—**सर्व्वेदप्रतयेजसवे तुभ्यं स्वाहा समस्त नियं कुम्भः—** यह समस्त से लिखा है और आर्द्रनाथा से—**“ओ आय हे, इसके लिए अग्निसाध और समस्कार करते हैं”**—यह लिखा है, अतः यज्ञ में समस्कार या यज्ञस्य ऋषु को समस्कार करना वेदानुसृत है। वह प्रतिमा-गूना नहीं है।

समस्कारक्रिया अङ्गापूर्व्वक करें—

जब यह सब समस्कारक्रिया केवल वचन से ही होती और कर्म-रहित ही रहती है तब, वचन, कर्म अथवा एक गायी हाग तबतक असाध जाचरण होता। यज्ञ में—**इदमहमनुतासात्स्यसुर्षेभि**—ऐसी प्रतिज्ञा करने के बाद भी यदि असाध जाचरण करें तो प्रतिज्ञा की दानि होती अतः मन, वचन, कर्म में एकत्वला जाने के लिए यहाँ सन्ध्या, यज्ञ या अन्य कर्मकाण्ड में समस्कारक्रिया किसी भी विधा में या यज्ञवेदि के सामने या अग्नि के सम्मुख करने का विधान हो यहाँ उस विधि को पूर्व्वरूप से अङ्गापूर्व्वक करना चाहिए। ईश्वर को छोड़कर अन्य को ईश्वर या ईश्वरतुल्य मानकर, स्मृति या दक्षिणा आदि के पूजन का विशेष महर्षियों ने किया है, वह नहीं करना चाहिए।

शतपथ में यज्ञ द्वारा नमस्कार—

शतपथ [१।१।१।१६] में यज्ञ को ही नमस्कार का रूप बताया है और यज्ञ के द्वारा ही परमात्मा को नमस्कार करना बताया है। जैसा कि—यज्ञो वं नमो यज्ञेर्नखंनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति—यह लिखा है। पुनः—नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो०—यजुर्वेद के १६वें अध्याय के ६४, ६५, ६६वें मन्त्र के बारे में शतपथ [१।१।१।३९] में लिखा है—यद्वेवाह वश दशेति वश वा अंजलेरंगुलयो दिशि दिश्येवैभ्य एतदञ्जलि करोति तस्माद्दु हेतद्भीतोऽञ्जलि करोति तेभ्यो नमो अस्तिवति तेभ्य एव नमस्करोति—यहाँ पर हाथ जोड़कर ही यज्ञ में दसों दिशाओं में स्थित रुद्रों को नमस्कार करना बताया है, अतः यज्ञ में नमस्कार की क्रिया असंगत कर्म नहीं है। यदि हमारा मन इसके लिए उद्यत नहीं होता है तो जो व्यक्ति मन्त्रोपासना में एवं यज्ञ के उपरान्त श्रद्धा से प्रभु को नमस्कार करना चाहे उसको अर्बुदिक मूर्तिपूजा या जड़पूजा में ग्रहण न करे।

परिक्रमा

परिक्रमा कर्मकाण्ड का अङ्ग है—

वैदिक श्रौत एवं स्मार्त कर्मकाण्ड में परिक्रमा का भी विशेष स्थान एवं महत्त्व है। बहुत से व्यक्ति यज्ञों में परिक्रमा-कार्य को देखकर कुछ विचित्रता अनुभव करते हैं। बिना यज्ञयान के यहाँ यज्ञ होता है उसे यज्ञवेदि की परिक्रमा करनी चाहिए। जब यज्ञ सार्वजनिक हो तो सभी को परिक्रमा करना उचित है। यदि किसी व्यक्तिगत काम्ययज्ञ के साथ अन्यो की भी यही कामना हो और वे भी उसमें निर्धारित यथादिपूर्वक भाग लेकर सम्मिलित होते हों तो उनको भी परिक्रमा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यज्ञ में उपस्थित सभी जन यदि यज्ञ-वेदि की परिक्रमा करें तो उनको भी इन क्रिया से विशेष लाभ ही होगा। यह काम्य यज्ञों के लिए मैने लिखा है।

हमारी प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति—

परिक्रमा-कार्य के प्रति हमारे अन्दर एक प्रतिक्रियावादी विचार-धारा तीव्र रूप से कार्य करती है। हम समझते हैं कि यह अवैदिक एवं पौराणिक कार्य है। न जाने अवैदिकता एवं पौराणिकता का मापदण्ड यह कैसे निर्धारित कर लिया कि जो हमारी अल्प विलसित-शक्ति के बाहर हो वह अवैदिक है। अवैदिक घोषणा करने से पूर्व जबतक वैदिक को नहीं जाना जाएगा तबतक अवैदिकता की घोषणा नहीं करनी चाहिए।

कभी-कभी प्रतिक्रियता विचारवादी यज्ञ में परिक्रमा-कार्य को देखकर अत्यन्त उग्र होकर, आत्मसंयम भी खोकर, उन्मत्त की भाँति चिल्लाने लगते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि यज्ञ में सब उपस्थित जनों को आन्ति से ही रहना चाहिए और धैर्यपूर्वक क्रिया देखनी चाहिए। यदि कुछ जिज्ञासा की बात हो तो बड़े तसभाव से यज्ञ के पदचान्त पहुँचकर अपनी शंका की निवृत्ति की जा सकती है।

वेद से ही परिक्रमा का प्रचलन हुआ है—

किसी यज्ञविशेष में परिक्रमा-कार्य को देखकर लोग यही सोचते हैं कि यह भी पौराणिक कार्य है, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि

पौराणिक वा तथाकथित सनातनियों में भी बहुत-सी विधियों का प्रचलन वैदिकों से ही हुआ है। परिक्रमाकार्य भी वैदिकों में पौराणिकों में प्रचलित हुआ है। यदि वर्तमान समय में हम कोई क्रिया नहीं करते हैं और उस क्रिया का हमारे यत्नों में प्रयत्न आदेव है तथा वह उपयोगी भी हो तो उसको प्रचलित करने से वह पौराणिक कैसे हो पाएगी ?

वेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों में परिक्रमा का विधान —

यजुर्वेद [२।२६] में—सूर्यस्यावृतमग्वावर्त्तं—यह वाक्य आता है अर्थात् सूर्य के आवर्त्तन, परिक्रमण के अथवा परिक्रमण कर्त्तव्य या नियमपूर्वक आचरण कर्त्तव्य अथवा परमात्मा के उपदेश के अनुसार वर्त्तन कर्त्तव्य। यज्ञप्रक्रिया में ग्रन्थों का विनियोग करके आधिभौतिक और आधिदैविक क्रियाओं का अध्यात्म में समन्वय एवं स्थापन किया जाता है। इसलिये इस मन्त्र पर आत्मप्रकाशात्म्य ने लिखा है—

अथावर्त्तते सूर्यस्यावृतमग्वावर्त्तं इति तदेतां प्रतिष्ठेतां प्रतिष्ठां
सर्व्वैतस्यवावृतमग्वावर्त्तं ।—अतः १।१।१।२०

सूर्यस्यावृतमग्वावर्त्तं—इस मन्त्र में सूर्य की प्रदक्षिणा करता है।

इसी प्रकार गार्हपत्य अग्नि की प्रदक्षिणा करने के लिए यजुर्वेद [२।२०] पर आत्मप्रथ ने लिखा है—अथ गार्हपत्यमुषतिष्ठते—अथावर्त्तते—अतः १।१।१।२०-२०—अर्थात् गार्हपत्य अग्नि के पास खड़ा होता है और—सूर्यस्यावृतमग्वावर्त्तं—इसमें गार्हपत्य अग्नि की परिक्रमा करता है।

कारत्यापनधीत सूच में भी—सूर्यस्येवावर्त्तते प्रदक्षिणम्—का-
३।२।२३ अर्थात्—सूर्यस्यावृतमग्वावर्त्तं—इस मन्त्र में प्रदक्षिणा कर-
यह लिखा है।

आत्मप्रथ ने यज्ञवेदि की प्रदक्षिणा करने के लिए अन्य स्थलों पर भी उल्लेख आता है।—अथसर्व्वं यजामहे०—मन्त्र के भाष्य में लिखा है—
अथावृतमग्नि विः पर्येति—[अतः २।६।१।१५] यहाँ पर भी तीन-
तीन परिक्रमाएँ दक्षिणावर्त्तन क्रम से और वामावर्त्तन क्रम से यज्ञवेदि
की करने की लिखा है, अतः यज्ञवेदि की परिक्रमा वैदिक कार्य है।
यदि यज्ञवेदि की परिक्रमा अर्धदिन कार्य होता तो महावि द्यात्मन्की
सम्भवती संस्कारविधि में परिक्रमा कहीं भी नहीं लिखते।

हमारी सन्ध्या एवं यज्ञ में परिचया का स्थान—

हमारी सन्ध्या बिना परिचया के ही नहीं सकती, यज्ञ सन्ध्या मन से होती है, अतः मन से ही परिचया—**मनसा-परिचया**—के कर्मों से पूर्ण की जाती है। इतन में उत्सविकन की किया का जो रूप और विधान मीमंसासूत्रमूत्र या अन्य सूत्रग्रन्थों से महर्षि ने बिना दे वहाँ उन सूत्रग्रन्थों में लिखा है कि—**वेद्यं सवितः०**—इस मन्त्र से एक वा तीन बार उत्सविकनपूर्वक प्रदक्षिणा करे अर्थात् बैठे-बैठे यह किया नहीं करनी चाहिए, अपितु प्रदक्षिणापूर्वक करनी चाहिए। यद्यपि संस्कारविधि में इस स्थान पर प्रदक्षिणा का स्पष्ट उल्लेख न होने से हमारे यहाँ इस प्रकार का व्यवहार प्रचलित न हो सका, परन्तु वेदारम्भ संस्कार में इसका कुछ उल्लेख है तथा मिल ग्रन्थों से यह लिया गया है वहाँ उन स्थानों में प्रदक्षिणा का विधान है।

संस्कारों में परिचया—

संस्कारविधि में निम्न-स्थानों पर प्रदक्षिणा का उल्लेख महर्षि ने किया है—

(१) **पानीपानप्रारम्भ** —“वाङ्मन्त्र कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य का उद्योग करे।”

(२) **उत्सविकन संस्कार में**—“पानक जाभार्व की प्रदक्षिणा करे।”

(३) **वेदारम्भ संस्कार में**—(१) “वाङ्मन्त्र कुण्ड की प्रदक्षिणा करके—**अदितेऽनुमन्यस्व०**—इत्यादि मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जल छिड़के।”

(२) “ब्रह्मगारो यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के परिचय में व्रथा रहकर...”

(४) **विवाहप्रारम्भ में**—(१) “वरपक्ष का एक पुरुष वृद्ध वस्त्र धारणकर वृद्ध जल से सूर्य एवं मन्थ की लेकर यज्ञकुण्ड की परिचया कर कुण्ड के दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख हो—बैठे।”

(२) “वर-वधु के यज्ञ की प्रदक्षिणा का २ बार विधान विधि में आया ही है।

(२) **प्राणाकर्मविधि**—इसमें भी २ बार प्रदक्षिणाकार्य स्थान ही विधि के अनुसार नवनिर्मित मकान का ही जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रदक्षिणाकार्य पूर्ण वैदिक ही है और आपत्तिजनक बिल्कुल नहीं है।

केन्द्र के चारों ओर परिक्रमा करनी होती है—

प्रत्येक को अपने केन्द्र के चारों ओर परिक्रमा करनी पड़ती है— यह प्रकृति का नियम है और उसी का अनुसरण हमें करना पड़ता है। हमारा केन्द्र परमात्मा है, अतः सन्ध्या में हम मनसा-परिक्रमा द्वारा उसकी परिक्रमा करते हैं। जब हम देवपत्नी को करते हैं तब यज्ञकुण्ड की अग्नि की, जिसके माध्यम से हम परमात्मा की स्तुति करते हैं, प्रदक्षिणा करते हैं। जब हमारा केन्द्र ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ गुरु या आचार्य होता है तो उसकी प्रदक्षिणा करनी पड़ती है। जब हमारा केन्द्र हमारा गृह हो जाता है तो उसकी प्रतिष्ठा करने में भी परिक्रमा करनी पड़ती है।

वेद कहता है कि—**स्वरितं यन्मामनुचरेम सुव्याचन्द्रमसाच्चि-**—सूर्य और चन्द्र तथा सृष्टि के लोकलोकान्तरों की जो शक्ति एक-दूसरे के प्रति एवं अनेका से अपने-अपने केन्द्र के प्रति हो रही है या कर रहे हैं, वह कल्याणमयी है, अतः हम भी उसका अनुसरण करें अर्थात् हमें भी अपने कल्याण के लिए अपने केन्द्र के सम्बन्धित गृहकर उसी की परिक्रमा करके अपनी परिधि में रहना चाहिए।

यज्ञ केन्द्र है, अतः यज्ञ की भी परिक्रमा होती है—

यज्ञ हमारे जीवन का केन्द्र है। यज्ञ का अद्विष्टात्तादेव परमात्मा है। उसकी विविध प्रकार से स्तुति की जाती है, अतः यज्ञ में प्रदक्षिणा करना सृष्टिनियम की अनुकृति, आत्मकल्याण के लिए ही है। यज्ञ का विज्ञान भी ब्रह्मनिष्ठ के विज्ञान का प्रतीक है। इसीलिए ऋषियज्ञों में—**सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्ते**—कहकर सूर्य की प्रदक्षिणा भी कराई जाती है और फिर—**अग्ने गृहपते**—इस मन्त्र को बोलकर यज्ञकुण्ड की भी प्रदक्षिणा कराई जाती है। स्मार्तयज्ञों में भी विविध स्थातों पर प्रदक्षिणा का विधान किया गया है।

दर्शपौर्णमास-इष्टियों में प्रदक्षिणा—

दर्शपौर्णमास-इष्टियों में परिक्रमा का विधान जलपनादि रथों में ही है। महर्षि दयानन्दजी जब महाराजा शाहपुरा के यहाँ विराजते थे तब उनकी ही प्रेरणा से यहाँ कतिपय ऋषियज्ञों के अनुष्ठानार्थ

राजाधिराज श्री नाहरसिंहजी के समय में उनके पुराने महल में यज्ञ-शाला का निर्माण हुआ और दर्शपोर्णमास-इष्टियों का नियमित प्रचलन हुआ। उनके पश्चात् राजाधिराज श्री उम्मेदसिंहजी ने भी दर्शपोर्ण-मास, चातुर्मास्य-इष्टियों का क्रम यावज्जीवन पूर्ण किया। इन इष्टियों के लिए भारत के बड़े-बड़े कर्मकाण्ठी विद्वान् भी आये। उन इष्टियों की विधि का परिष्कार करके लेखन-शोधनकार्य भी हुआ। राजगुरु श्री ध्रुवानन्दजी तो उनके यहाँ प्रायः रहते ही थे, और भी सभी बड़े-बड़े आर्य विद्वान् वहाँ महीनों निवास करते थे। पं० बृद्धदेवजी विद्यालंकार भी बहुत रहे और उन्होंने भी उन इष्टियों का संशोधन किया था। उन परिष्कृत विधियों में यज्ञ के अन्त में परिक्रमाकार्य भी वहाँ होता था जो उनकी विधि में भी लिखित रूप से विद्यमान है। इस विधि को वहाँ के सब जनों ने देखा है, अतः यज्ञ के अन्त में परिक्रमा का कार्य महर्षि दयानन्द एवं तत्पश्चात् के आर्य विद्वान् जनों द्वारा भी अनुमोदित वैदिक कार्य ही है ऐसा समझना चाहिए। यदि आपकी रुचिकर नहीं है तो इससे वह अर्वादिक् नहीं माना जा सकता। वेद के अनुकूल अपना मन बनाकर तदनुकूल कार्य करता ही श्रेयस्कर है।

दक्षिणा

वेद में दक्षिणा की प्रार्थना—

यज्ञ में दक्षिणा देना भी प्रमुख कार्य है। वेद में दक्षिणा देनेवाले की प्रार्थना की गई है और उसको उच्च स्थिति प्राप्त होने का उल्लेख है। ऋग्वेद में—**उष्वा विवि दक्षिणावन्तो षष्ठ्युः०**—के द्वारा दक्षिणा का महत्त्व वर्णित किया है। इसलिए सतयज्ज आदि ब्राह्मणग्रन्थों में उसका विधान भी किया है। जैसा कि—

भेषजं ह वै यजन्त्य दक्षिणा । तस्मात् ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति ।

—मत्० १२।७।१।१५

यज्ञ की दक्षिणा देना यज्ञ की भेषज-किया है जिससे यज्ञ की शक्ति न होकर सम्पृद्धि ही होती है। इसलिए ऋत्विजों को यज्ञ में दक्षिणा दी जाती है।

दक्षिणा से यज्ञ की सम्पृद्धि—

**स एष यज्ञो हतो न दक्षसे । तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्येनं
दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम षष्ठ्य सम्पृद्ध एष यज्ञो
भवति तस्माद्दक्षिणा ददाति ॥—मत्० २।२।२।२**

दक्षिणाहीन यज्ञ वृद्धि को प्राप्त नहीं होता, अग्नि नष्ट हो जाता है। यज्ञ की सम्पृद्धि के लिए उसे दक्षिणा से देवों में सम्पृद्ध किया। दक्षिणा से सम्पृद्ध किये जाने से दक्षिणा नाम प्रसिद्ध हुआ। दक्षिणा से ही यज्ञ सम्पृद्ध होता है, अतः यज्ञ में दक्षिणा दी जाती है।

दक्षिणा न देने से हत्या का पाप—

इसी प्रकार सातपथ (१।२।१) में एक कथा आती है जिसमें बताया है कि जो पुरुष यज्ञ में ऋत्विजों को दक्षिणा नहीं देता, उसे स्वष्टा के पुत्र विश्व-मन की हत्या का पाप यज्ञ द्वारा आप्तब्रह्मदेवगण पहुँचा देते हैं। इसलिए देवों ने वर्णपूर्णमास-दृष्टियों में उस दक्षिणा की व्यवस्था की जिसको अन्वाहार्य कहते हैं जिससे हवि बिना दक्षिणा के न रह जाए।

दक्षिणा में काष्यपापुत्रि में सुतयता—

इत्येव मे एतच्छास्त्रं दक्षिणा न वा अस्तेषां रथो बहुति ।

एव यथा इत्येवमता ये कामं काष्यते तमभ्याजुने । एवमेतेन

दक्षिणयता ॥—नाम्न यथाशास्त्रम् १३१११२

यज्ञ की दक्षिणा निम्नव्यतायुक्त है। जिना निम्नव्यता के रथ नहीं चलता। जिस प्रकार से निम्नव्यतायुक्त रथ विधर वाले उच्च इन्धन मार्ग पर ले जाया जा सकता है वही प्रकार दक्षिणा से दक्षिणा देने-वाला अपनी कामना की पूर्ति प्राप्त करता है।

दक्षिणा काव्ययक है—

सतपथ मे दशमी निम्न प्रकार कहा है—

वशा ये देवा देवाः । अथ ये देवाः । एव ये ब्राह्मणाः सुभुवामोः

नृषामासते अनुष्यदेवाः । तेषां देवा विभक्त एव यज्ञः ।

आहुतश्च एव देवानां, दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां

सुभुवतामनुष्याणाम् । आहुतिभिरेव देवाः प्रीणाति, दक्षिणा-

विभङ्गुष्यदेवान् । न एवमुभये देवाः प्रतीहाः स्वर्गं लोक-

मधिष्यदन्ति ।—यज० १३११११

यों प्रकार के रथ हैं। एक तो मनुज से मिल जाति जाति देव हैं और दूसरे से मनुज देवता हैं जो ब्रह्मनिष्ठ, यज्ञ की सेवा एवं आधिपात्र की सेवा में लगे हुए ब्रह्मनिष्ठसमस्त विदाओं में पारबल हैं। इन दोनों के मध्य में यज्ञ के दो भाग हैं। यज्ञ में जो आहुतियाँ दी जाती हैं वे अग्नि जाति सृष्टि के देवताओं के निर्मित हैं और जो यज्ञ में दक्षिणा है वह मनुष्यदेवों, आधिपात्र के वरक, वेदक, ब्राह्मणों के निर्मित है। आहुतियों से देवों को नृत्य करता है और दक्षिणा से मनुष्यदेवों को। इस प्रकार के सब, दोनों प्रकार के देवतुल्य और परस्पर होकर यजमान के लिए स्वर्ग को अच्छे प्रकार प्राप्त करते हैं।

कुछ लोग यज्ञ में केवल एक ही प्रकार के देवों की पूर्ति करते हैं, वे आहुतियाँ देने मात्र से ही यज्ञ की पूर्णता अन्तम के कारण मानते हैं और दक्षिणा नहीं देते अथवा अल्प देते हैं, परन्तु मनुष्य-देवताओं की पूर्ति दक्षिणा के द्वारा अवश्य करनी चाहिए, वेदक ब्राह्मण ही वास्तव में अल्प देवता है जैसा कि—

एते ये देवाः आहुतं च ब्राह्मणाः ।—यज० १३११११

विदाः प्रीति देवाः ।—यज० १३११११

इन घन्टों में बताया है।

इसी प्रकार अतपथ (१२।४।४।६) में लिखा है—**ब्राह्मणो वाऽ धार्षेयः सर्वा देवताः—**अर्थात् धार्षेय ब्राह्मण में सब देवता हैं।—**यावती च देवताः सर्वास्ता वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति तस्मान् ब्राह्मणेभ्यो वेदविदूषो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्न घटनीं कौत्सेत् । एताः एव देवताः प्रीणाति ।—**(तै० ब्रा० १।१५)।—अर्थात् जितने भी देव हैं वे सब वेद ब्राह्मण में निवास करते हैं, इसलिए वेद ब्राह्मण को प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिए। उनके प्रति कुक्कन कभी न करे। ये ही देवताओं को तृप्त करते हैं—प्रसन्न करते हैं, अतः यज्ञ में मनुष्यदेवों को दक्षिणा से अवश्य तृप्त एवं प्रसन्न करे, सर्वत्रि—**सुभो वा एता यज्ञस्य यद् दक्षिणा यद् दक्षिणावता यजते, सुभवेवास्मिन् यथाति—**ताण्ड्य महाब्राह्मण १६।१।१४—अर्थात् यज्ञ की दक्षिणाएँ सुभ हैं। दक्षिणा देनेवाला जो यज्ञ करता है वह सुभ को ही इसमें धारण करता है, अतः यज्ञ में दक्षिणा का अत्यधिक महत्त्व है, और इसकी कित्ति भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

यज्ञ में दक्षिणा में क्या देना चाहिए ?—

अतपथ में कहा है—**अतस्यो च दक्षिणाः । हिरण्यं गोर्वासोऽप्यः—**४।३।४।७—अर्थात् दक्षिणा में स्वर्ण-रजतादि द्रव्य, गौ, भूमि और अश्वदि वाहन के चार प्रकार के द्रव्य होते हैं। ऋग्वेद में—**हिरण्यवा घमृतस्य भजन्ते—**(ऋ० १०।१०।७२) अर्थात् दक्षिणा में स्वर्णादि प्रदान करनेवाले को मोक्ष प्राप्त होता है—यह कहा है। इसी प्रकार—**वासोवाः सोम प्र तिरस्य घामुः—**(ऋ० १०।१०।७२) अर्थात् भूमि देने से आमु को प्राप्ति, ये अश्वराः सह ते सूर्येण—(ऋ० १०।१०।७२) जो अश्वदि तीव्रगति के वाहन दक्षिणा में देते हैं वे अधिमान को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार—**दक्षिणां यमं कृणुते—**(ऋ० १०।१०।७३) दक्षिणा यजमान के लिए यम का, रक्षाकारी कवच का भी कार्य करती है—यह भी कहा गया है।

संस्कारविधि में दक्षिणा—

महाषि दवानन्दजी ने भी वेदशास्त्रानुसार दक्षिणा में स्वर्ण, गौ, वस्त्र आदि देना लिखा है जैसा कि संस्कारविधि में—

घम्यायेव दक्षिणां च कृणुति पले एकोनद्वंशस्र्गाथः ।

**द्राक्ष्यमाणे संविद्यति । यदप्यथे त्रयोदश । सर्वेषु पशेषु
पादिलेखी वेनवः । वराचं जलस्य वावः ।**

अन्वयाधान यज्ञ की दक्षिणा अनुविद्यति पक्ष में उत्तरपक्ष गीव है । द्राक्ष्य पक्ष में पशुस्य गीव, यदप्यथे में १३ गीवों और पादिलेखी में आठ गीवों दक्षिणा में प्रदान करे । वरदाक्षणा का विधान यहाँ ही वहाँ ४ गीवों प्रदान करे । चार तीला स्वर्ण, चार गौ का प्रतिनिधि द्रव्य होता है, अतः यहाँ जितनी-जितनी गौ दक्षिणा में लिखी है वहाँ उतना ही तोला स्वर्ण ग्रहण करना चाहिए ।

यद्यपि वे यज्ञ एवं संस्कारों के अन्त में दक्षिणा देने के लिए लिखा है और श्रुतिजों को भोजन कराने के पश्चात् भी दक्षिणा देने के लिए लिखा है, परन्तु हम दक्षिणा देने के पक्ष को बिल्कुल भूल गये, फिर यज्ञ के पक्ष को प्राप्ति में पूर्णता की जागा भी कैम हो सकती है ?

दोषत्याग दक्षिणा का रूप नहीं है—

उपर्युक्त वेदव्याख्या के प्रमाणों में सर्वत्र दक्षिणा में द्रव्य, गौ, भूमि, जलवादि देने का विधान ही जाता है, नहीं भी दोषत्यागरूपी दक्षिणा का विधान नहीं है जो कि आजकल एक नई व्याख्यानयुक्त परिव्यापी पक्ष मई है । दोष त्यागने का अर्थ तो यजमान केता है और वह भी यज्ञ के आरम्भ में ही—**धमे क्षतपते**—रूप से अतः ग्रहण करता है । यज्ञ के अंत के पालन में दोषों से ही दूर रहने का आशय करना होता है । फिर उसका दक्षिणा से क्या सम्बन्ध ?

दितको कर्मकाण्ड का विषय ज्ञात नहीं है वे यज्ञों में अपना प्रभाव जमाने के लिए कहते हैं कि हम द्रव्यमयी दक्षिणा नहीं लेते, अर्जित यजमान में जो कोई दोषण है वे हमें दक्षिणा में द । यह वेदव्याख्यान-संग्रहित दक्षिणा है ही नहीं । अतएव वे कहा कि—**क्षतस्यो वै दक्षिणा क्षिरव्यं गीर्वांसोऽश्वः** । परन्तु यह पाँचवों दक्षिणा वहाँ से निकल जाई ? दोषत्याग ही यजमान से कराना है तो वह यज्ञ से पूर्व जब अतः ग्रहण किया जाता है तभी उसके त्यागने का अर्थ कराना जा सकता है । दोषत्याग अतः हो सकता है—दक्षिणा नहीं ।

दक्षिणा जीविकाकरूप में ग्रहण की जाती है—

दक्षिणा से श्रुतिजों का जीवननिर्वाह होता है, अतः दक्षिणा जीवन में धारण, ग्रहण की जाती है । यदि बीड़ों, मिर्चों, मत्स्यान,

व्यभिचार, बोरी, असत्य, घृतादि-स्वाशय्य दक्षिणा यजमान ऋत्विजों को देना तो क्या वे उन दोषों का आचरण ग्रहण करते ? तब ऋत्विजों को बोरी, सिगरेट, शराब आदि पीकर, व्यभिचार, बोरी आदि कुकर्मे करके, असत्य बोलकर, घृतादि खोलकर इनका ध्यान करना होगा। तभी यजमान द्वारा दी गई दक्षिणा का वास्तविक रूप में ग्रहण अर्थात् स्वीकार मान्य होगा, क्योंकि दक्षिणा-ग्रहण के समय जो देवस्य स्वा सक्तिः प्रसवेऽश्विनोर्बहुभ्यां पूषो हस्ताभ्यां प्रसिगृह्णाभि—वह मन्त्र बोलकर दक्षिणा ग्रहण की जाती है। देवस्य स्वा सक्तिः प्रसवे० मन्त्र में फिर सब कुर्मों का समावेश सविता द्वारा ही मान्य करना पड़ेगा और अश्विनी की भुजाओं और पूरा के हाथ से उनको ग्रहण करके जीवन का साथी बनाना पड़ेगा, अतः दोषों के त्याग को दक्षिणा का रूप देना कदापि उचित नहीं है। दक्षिणा द्वारा ब्राह्मणों को तृप्ति करने से यज्ञ की तृप्ति होती है—

सतपश्वब्राह्मण १।७।३।२८ में यह प्रकरण निम्न प्रकार आता है—

स ह्येव यज्ञ उवाच...। तुष्पाया चं विभेभोति । का ते तृप्तिरिति । ब्राह्मणस्यैव तृप्तिममुत्प्रेष्यमिति तस्मात्संसिद्धौ यज्ञे ब्राह्मणं तत्प्रेषितं च क्षुधात् । यज्ञं च तत्सत्प्रेषति ॥

यज्ञ ने कहा—“मुझे प्यास से डर लगता है।” यज्ञ से पूछा गया कि तेरी तृप्ति कैसे होती है ? उसने उत्तर दिया—“ब्राह्मण की तृप्ति से मेरी तृप्ति होती है।” इसलिए यज्ञ की समाप्ति पर ब्राह्मणों की तृप्ति के लिए कहना चाहिए, क्योंकि इससे यज्ञ की तृप्ति होती है, अतः ऋत्विजों को दक्षिणा और भोजनार्थ से अच्छी प्रकार तृप्त करना चाहिए।

जो लोग दक्षिणा न देने के यत्न में हैं उन्हें तो यजमान के यहाँ का अन्न भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अनेक यज्ञों में नाचनों की पूर्वेयाग में भरकर दक्षिणा में देने के लिए कहा गया है, अतः दक्षिणा न देने का यत्न वैदिक नहीं है। □

यज्ञ-शेष

यज्ञ की आहुति में जो शेष बच रहता है, उसे यज्ञशेष या हृतशेष कहा गया है। लोक में यज्ञों की यज्ञप्रभाव संज्ञा दी गई है। जिस पदार्थ की यज्ञ में आहुति ही न दी गई हो उसे यज्ञशेष कहा जाये और यज्ञ के प्रसार के मत में ग्रहण करना या विचारित करना भी योग्य नहीं है।

यज्ञशेष का ग्रहण करना प्रमुख मत से यज्ञमान का अन्तर्भव है। सामंजसिक यज्ञों में सभी को ग्रहण करने का अधिकार है। व्यक्तिगत यज्ञों का प्रसार या यज्ञशेष सबको विचारित करने की आवश्यकता भी नहीं है।

दो प्रकार का हृतशेष—

हृतशेष में घृत, भात या मीठानुभात का उल्लेख नवकारिणी में आता है। इनमें भी घृत का हृतशेष दो प्रकार का है। एक जो आहुति में बचकर आभरवाली में शेष रहता है और दूसरा घृत का हृतशेष वह है जो मन्मुख स्त्रोत्र उदक पात्र में आहुति के पश्चात् इष्ट न मम से छोड़ा जाता है।

इष्ट न मम के हृतशेष का उपयोग—

इनमें से जो हृतशेष इष्ट न मम के द्वारा उपलब्ध में छोड़ा जाता है उसका भी उपयोग कई प्रकार से किया जा सकता है।

- (१) यज्ञ के पश्चात् उदक पात्रन ३ बार मन्मुखिक प्रजमान एवं यज्ञमानपानी कर से। अथवा—
- (२) यज्ञ के पश्चात् उसका कुछ भाग अग्नि में अर्पित कर सकते हैं। सूत्रों में उसका लेकर संख्यभाषा स्पेक्षा (यज्ञ. २।२८) मन्त्र बोलकर एक वा तीन बार आहुति दे देते। शेष पृतपुत्र जन को आभमन के लिए ग्रहण कर सकते हैं। अथवा—
- (३) रोमपीडित स्थान पर उस इष्ट न मम पात्र के घृतयुक्त अन्न का स्पर्श करके हाथ में मलकर, जपेनी की लगाकर अपने मुख चक्षुरादि इन्डियों एवं शरीर पर लगाया जा सकता है तथा अपने रोमपीडित स्थान पर लगाया जा सकता है। अथवा—

- (४) उस इत्र न घस के जल का तुमिषिया न घाप्य शीघ्रवयः सन्तु—
इतना मन्त्र बोलकर तीन बार जाचमन किया जा सकता है
और तुमिषिया तर्पण सन्तु घोष्याम् हुंसिष्ट वं च वषं द्विष्यः—
इतना मन्त्र बोल कर अञ्जलि में जल लेकर नैऋत्य दिशा में
फेंक दिया जाता है। अथवा—
- (५) उस अवशिष्ट जल से—घ्रापो ह्रिष्याः० आदि तीन मन्त्रों से यज्ञ-
वेदि पर यजमान, यजमानपत्नी तथा उपस्थितजनों पर प्रोक्षण
भी किया जा सकता है। अथवा—
- (६) किसी रोगी व्यक्ति को वह जल थोड़ा-थोड़ा पिलाया जा सकता
है और उसके पूत को हृषेनी पर लेकर तथाकर जरीर पर या
रोगस्थल पर लगाया जा सकता है। अथवा—
- (७) पीने के एवं स्नान के जल में उस जल को मिलाकर पीने एवं
स्नान के उपयोग में लिया जा सकता है।^१

घ्राग्मन्थानी एवं मोहनभीम घ्रादि के हृतघोष का उपयोग—

आग्मन्थानी में आहुति से अवशिष्ट पूत का प्रयोग यजमान तथा
यजमानपत्नी के खाने के लिए है। जो भोजन करे उसके प्रथम घ्राणी
में उसको मिलाकर भेषन कर सकते हैं, अर्थात् हृतघोष को खाने के
बाद भोजन करे। यदि भ्रात एवं मोहनभीम की आहुति योग हो तो
वह पूत उनमें मिलाकर उपयोग में लाया जा सकता है और उसको
विनिर्गत किया जा सकता है।

यज्ञघोष का महत्त्व क्यों ?—

जो हृतघोष पदार्थ है उसपर यज्ञ में प्रयुक्त आहुतियों का प्रभाव
पड़ता है और वेद-मन्त्रोच्चारण का भी प्रभाव पड़ता है। मन्त्रोच्चारण
के प्रभाव को जगल करना कुछ कठिन है, परन्तु आहुति का प्रभाव जगल
करना सुगम है। आहुतियों का धूम, पूत, जल, भ्रात, मोहनभीम, घ्रादि
आदि से संयुक्त होता है और इत्र एवं जाड़े पदार्थ तथा पूत से मिला
पूतने हुए सूक्ष्म पदार्थ उसको घट्टा करते हैं। बार-बार आहुतियों से
बार-बार यह क्रम चलता है और उत्तरोत्तर अधिक भावित के साथ

१. महर्षि एश्वर्य ने केवल यजमान-संस्कार में कुछ विशेष मन्त्रों में 'इद्र न
यष' से अतपत्र में पूत के विन्दु टपकाने के लिए लिखा है और इसका
उपयोग संस्कारों की विधि से ही तक प्रकृत जरीर में भाषित करते करते
है।

पदार्थ एवं जाहृतिपूत हो जाते हैं। जिस प्रकार से वैद्यक की औषधियों में एक ही औषधि में एक बार की भावना और अधिक बार की भावना देने से गुणों की वृद्धि हो जाती है उसी प्रकार जाहृतियों से वज्र के जल, घृत, दूध, खीर, भात, मोहनभोग, कलादि पर भी अधिकाधिक सम्कार पड़ जाता है और वे सब अत्यन्त लाभकारी अमृततुल्य औषध-रूप हो जाते हैं। वेद में कहा है—

परि वाजपतिः कबिरन्निर्हृद्व्याघ्रमोत् ।

दधद्वलानि दासुषे ।—वज्र० १११२४

अर्थात् जन्न का पालन-पोषणकर्ता, क्रान्तदर्शक जन्मि सब ओर से हृदियों को प्राप्त होता है जिससे हृदिप्रदाता वरमान के लिए रमणीय धनैश्वर्य, आरोग्यता, पुष्टि को देता है, अतः हृदियेष में विशेष सामर्थ्य होती है। उसे छोटा-बोटा प्रसादरूप में ग्रहण करने से प्रसाद—प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। ऐसा बड़ो मात्रा में प्रसाद औषधि का लाभ देता है, अधिक खाने से तो औषध लाभ न देकर शूद्रा-तृप्ति का प्रयोजन हो जाता है।

वज्रशेष को भावित करने की विधि—

वज्र प्रारम्भ होने से पूर्व ही भात, मोहनभोग, खीर, जल आदि वा और जो कलादि, मिष्टान्न वज्रशेष में वितरित करना हो उसे वज्रशान्ता में रखना चाहिए। उसको आरोक जानी या वारोक जानी के वस्त्र से आच्छादित करना चाहिए, जिससे उसमें जाहृति के धूम का स्पर्श होता रहे और अर्धाम्बि का तेज, प्रकाश एवं किरणें उससे स्पर्श कर सकें। वही वह प्रभावशाली वस्तु है अन्यथा नहीं। यदि किसी ठक्कन से उसकी ढक दिया जाएगा या मोटे कपड़े से आच्छादित कर दिया जाएगा तो उन पदार्थों पर जाहृतियों एवं वाणी का प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि बौद्ध धार्मिकों में जल, दूध, खीर, भात, मोहन-भोग रखे जाएँगे तो वे पदार्थ वज्र की जाहृति से और भी अधिक भावित हो सकेंगे। □

यज्ञ में बलिर्वैश्वदेव की आहुति

बलिर्वैश्वदेव का फल—

सम्नमहायज्ञों में बलिर्वैश्वदेवयज्ञ का भी प्रमुख स्थान है। अपने लिए जो भोजन घर में बनता है उसमें से लगभग-सर्वत्रयाने भोजन को छोड़कर शेष भोजन की कुछ आहुतियाँ जग्मि में पृत-भक्तारादि के साथ ही जाती है और कुछ भाग चिकित्सादिताओं में रखा जाता है तथा कुछ भाग कुत्ता, गी, बौजा, कुमि और जलधि आदि को दिया जाता है। यह बलिर्वैश्वदेवयज्ञ है। इसकी सम्मन्व करने के पश्चात् शेष भोजन को गृहस्थ एवं उसके परिवार के जन ग्रहण करते हैं। बिना बलिर्वैश्वदेवयज्ञ के भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार बलिर्वैश्वदेवयज्ञ करने का फल निम्न बताया है—

एतस्वैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रवीत भवति हेवास्व ॥

—गोभिलगृह्यसूत्र १।४।२०

बलिर्वैश्वदेवयज्ञ कर चुकने पर जैसी इच्छा हो उसकी प्राप्ति की कामना के लिए मन-ही-मन 'वर मांगे, निश्चय से मनोरथ सिद्ध होता है।

बलिर्वैश्वदेव कौन करे ?—

बलिर्वैश्वदेवयज्ञ गृहपति या गृहपत्नी को ही करना चाहिए। इस यज्ञ के लिए स्त्री-पुरुष दोनों ही समान अधिकारी हैं। जबतक घर में पञ्चमान और अजमानस्त्री का निवास हो जबतक तो इनमें से कोई भी करे। यदि ऐसी स्थिति न हो तो किसी अन्य ब्राह्मण से भी करा सकते हैं। जैसा कि गोभिलगृह्यसूत्र में कहा है—

स्वयन्वर्षेयान् यावद्दसंद् बभूवुः हरेत् ॥—१।४।१९

बलिर्वैश्वदेवयज्ञ जबतक गृहपति घर में रहे स्वयं ही सम्पन्न करे, असमर्थ होने पर—

अपि वा अन्यो ब्राह्मणः ॥—गोभिलगृह्यसूत्र १।४।१९

किसी अन्य ब्राह्मण से भी करा सकते हैं, परन्तु इस यज्ञ के वास्तविक अधिकारी तो—

इव्यती एव ॥—गोभिलगृह्यसूत्र १।४।२०

दणनी (स्त्री और पुत्र) दोनों ही समान अधिकारी हैं। दोनों के अधिकारी होने पर दोनों में से कोई भी इसकी कर सकता है। परन्तु किसी आचार्यों ने यह भी व्यवस्था की है कि—

स्त्री ह सार्धं प्रातः पुमानिति ।— गोमिन्पुस्तकसूत्र १।४।११

प्रातःप्रातः पुत्र्यो जी चर का स्नानी है यह इसकी करे और सार्धं स्त्री (सहसर्वा) करे ऐसा किसी-किसी आचार्य का मत है।

बलिकार्य के लिए अन्न—

पाकतापा में बने अनेक प्रकार के भोजनों में से किसी एक प्रकार के भोजन से बलिकार्य किया जाता है, सभी प्रकार के भोजनों में नहीं, ऐसा नि—

यद्येकस्मिन् काले त्रीहिनयो प्रथिवेवात्तामन्वतराय

कृत्वा कृतं मन्येत ।— गोमिन्पुस्तकसूत्र १।४।२२

यदि एक ही समय में चावल और जो दोनों पुष्य-पुष्य प्रकारों में से ही दो दोनों में से किसी भी अन्न से बलिकार्य सम्पन्न करने से कार्य की पूर्णता हो जाती है।

बलिबैद्यवैद्य किस अग्नि में करे ?

अजकल लोक यज्ञदि कर्मकाल को ज्ञासन् न ज्ञानमे के कारण परापरपवत करने में प्रवृत्त हूए पुनः यज्ञश्रावण भी करने लगे अर्थात् जो भी कल्प जाये उसी में जाहूति देने साथ का कर्म करते हूए परापरपवत सम्पन्न करने के सद्यः विना यज्ञ का विचार किये कि कितना करना है, कम करना है, कहीं करना है, किस अग्नि में करना है और किस उष्णी में करना है ज्ञादि का विचार किये कितना एक ही यज्ञ में अनेक यज्ञों का पाठ करने हूए जाहूति देना सही यज्ञश्रावण कार्य करने लगे है।

इसका अर्थ अग्न्या यज्ञों की स्थलों पर प्रातःप्रातः अग्नि-होषादि यज्ञों के उपरान्त उसी अग्निपूज में बलिबैद्यवैद्ययज्ञ का भी अर्घ्यश्रावणपूर्वक होना करने पर दृष्टिसोच्य होता है। मंत्र—**अज-श्रावण**—कर्मकाल की दृष्टि से संबंधी मान्य है। यज्ञिन् स्नायी द्यावन्दासी मे विधा है नि ये जाहूतिदाता कृते की अग्नि में दी जाती जाहूति और जो भोजन बनाया ही ज्ञानमे से लक्षण-विधीरहित भीयन् की है।

यज्ञ करने के पश्चात् भोजन पकाने के लिए पाकशाला में अग्नि को बलाना ही होगा। उसी में भोजन बनेगा परन्तु उसमें आहुति न देकर भोजन बना भी नहीं, तो भी अग्निहोष की अग्नि में बलिर्वैश्वदेव के मन्त्रों से आहुति दे देना सर्वथा अनुचित है। महर्षि दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश में बूढ़े की अग्नि में ही इसको करने का जो विधान किया है वही विद्युत् वैदिक प्राचीन परिपाटी है। जैसा कि—

यस्मिन्मन्त्री भवेत्स्याको वैश्वदेवस्तु तत्र वै ।

—छन्दोगपरिशिष्ट

जिस अग्नि में भोजन की पाकक्रिया हो उसी में निरन्तर से बलि-वैश्वदेवयज्ञ करना चाहिए। इसी प्रकार—

शालान्त्री च पचेदन्नं लौकिके वापि निर्यज्ञः ।

यस्मिन्मन्त्री पचेदन्नं तस्मिन् हीमो विधीयते ॥

—अपिरा स्मृति

जिस किसी अग्नि में चाहे वह यज्ञशाला की हो या पाकशाला की लौकिक अग्नि हो, जिसमें अन्न का पाक निर्य हो उसी में बलि-वैश्वदेव का होम करना चाहिए, अतः अग्निहोष समाप्त होते ही बिना भोजन के पकाने उसमें किसी भी द्रव्य से जो वाजार से लाया हुआ हो या हवनसामग्री हो उसमें बलिर्वैश्वदेव की आहुति देने से बलिर्वैश्वदेव-यज्ञ हो गया वह मानना अनुचित है।

अधुरा बलिर्वैश्वदेव-पारायण यज्ञ—

जो जोष यज्ञ में ही बलिर्वैश्वदेव-पारायणयज्ञ करते हैं वे दस मन्त्रों से पारायणपूर्वक आहुति दे देते हैं परन्तु उसके बलिभाग की जोकि विविध निष्ठा एवं स्थानों में रखने का, अतिथि को देने का और पशु-पक्षियों को देने का भाग एवं किया है वह तो ही नहीं पाती, अतः यदि मन्त्र एवं विधि की रक्षा के लिए यज्ञाग्नि में अधुरा तथा शास्त्रविरोधी बलिर्वैश्वदेव पारायण करते हैं तो उसकी रक्षा तो पूरे ही यज्ञपारायण से होगी। वास्तव में वह सब यज्ञ के नाम पर अज्ञानता का प्रदर्शन है।

गैस घोर विद्युत् के युग में—

कुछ लोग कहते हैं कि आजकाल बड़े बरसों में गैस एवं विद्युत् से भोजन बनता है उसपर आहुति नहीं दी जा सकती, अतः दैनिकयज्ञ

में आहुति दे देना ठीक होगा, परन्तु जिसको विधिपूर्वक करना ही है वह उसके प्रकार भी निकाल लेगा। जिसको नहीं करना है वह अनेक घटाने बनाएगा ही। गैस या बिजली के चूल्हों पर या स्टोव पर तार की बारीक जाली रखकर उसपर बलिवैश्वदेव की आहुति दे सकते हैं और वह अच्छे प्रकार उसी अग्नि के द्वारा ग्रहण भी हो जाएगी। भात, रोटी, मोहनभोग आदि सब अच्छे प्रकार जल सकते हैं, अतः गैस, स्टोव, विद्युत् आदि पर भोजन पकानेवालों को जाली का प्रयोग कर बलिवैश्वदेवयज्ञ विधिपूर्वक करना चाहिए। □

यज्ञों में प्रवचन

यज्ञवेदि व्याख्यान का मन्त्र नहीं है—

आधुनिक यज्ञों में मनोरञ्जनार्थ तथा ज्ञानेयार्थ यज्ञ के मन्त्र-मण्डप में व्याख्यान-प्रवचनादि भी ब्रह्मा वा ऋषिजनों द्वारा दिये जाते हैं। इसका इतना अर्थ प्रचलन हो गया है कि यज्ञ में व्याख्यानादि न देकर केवल यज्ञ-कर्मकाण्ड ही कराया जाए तो मोक्ष-सम्पत्ति ही वि-यज्ञ ठीक नहीं हुआ। इस प्रकार के—व्याख्यान-यज्ञों—में ब्रह्मा का ध्यान परब्रह्म और यज्ञ तथा कर्मकाण्ड में न रहकर केवल जन्ता की ओर ही रहता है। वे जन्ता को प्रत्यक्ष कर्मों के लिए विधिभाग की उपेक्षा करके, व्याख्यान को मनोरञ्जक बनाने में ध्यान रखते हैं और यज्ञ की कर्म करके व्याख्याता को अधिक महत्त्व देने लगते हैं।

यज्ञवेदि कर्मकाण्ड के लिए ही है—

यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र तो वेद के होने से वह परब्रह्म के मण्डप तक उम्मी भी वाणी है। उम्मी का उच्चारण हीमा चाहिए। व्याख्यान तो मानुषी मन्त्र और मानुषी धार है। वेदवाणी का ही यज्ञवेदि पर प्रयुक्त रहना चाहिए, मानुषी वाणी—व्याख्यानादि का नहीं। व्याख्यान-प्रवचनादि से यज्ञ अधिष्ठित, अमङ्गलकारक और हिंसित ही जाता है। अतः ब्रह्मा आदि को बहुत कम अर्थात् पञ्चकार्य-संभालनार्थ आदेश आदि ही प्रयुक्त करने के लिए बोलना चाहिए अन्य कुछ नहीं। वेद में कहा है—**ब्रह्मन्वा एवं वरी बहु ।—**यजु. २१।२२

हे चारों वेदों के भगवा ब्रह्मा ! तु बहुत मत सीमा कर। परन्तु वेद के दस आदेश के विपरीत आज यज्ञवेदि व्याख्यान का मन्त्र यन्नी हुई है। कर्मकाण्ड नहीं निरस्तक और उपेक्षित हुआ गया है। कभी-कभी तो यज्ञवेदि ऐसे अवसरों पर अन्धी सहजिल भी बन जाती है और कर्मकाण्ड की अवहेलना करके लोगों का मनोरञ्जन मात्र किया जाता है जिससे यज्ञ के प्रति धृष्टता घटती है। अथर्वण (१।७।७।१२) में लिखा है कि—**न वै वार्ष्णेय एष रथात्—** अर्थात् वह ब्रह्मा यज्ञ में चुपचाप रहे। चुपचाप रहने का आदेश होने पर व्याख्यातकनी चुपचाप की स्थान देना उचित नहीं है।

महृषि व्यासजी की सरस्वती का आदेश—

महृषि संस्कारविधि में लिखा है कि—‘उपनिषत् कर्म के विना दुसरा कर्म या दुसरी बात कोई भी न करे’—परन्तु महृषि के इस आदेश की पूर्ण अवबोधना पत्रों में व्याख्यानादि देकर की जाती है। कोई-कोई तो पत्रों की हलाने के लिए इन व्याख्यानों में उपदेश की वे बातें भी करते हैं जोकि दिग्भ्रष्ट की होती हैं। कोई-कोई तो किसी उपवासम् अर्थात् के आसमन पर यज्ञकर्म को छोड़कर, उसकी अनुमान में लग जाते हैं और परमात्मा की आराधना छोड़कर उस तलीमारी की प्रथा करने में संलग्न हो जाते हैं। उपलोक की दृष्टि से यह अत्यन्त कार्य भया उच्छा है। ये सब अर्थोक्ति कार्य हैं।

सरस्वतीविधि के पुरातन संस्कार में महृषि लिखते हैं कि—‘उपनिषत् और दुराहित आदि ईश्वरोपामना करने और जिनके भी पुत्र्य हों वे भी ईश्वरोपामना में विलग्न न हों’—यह आज भी बसता है कि यज्ञ में अन्य कुछ कार्य न हों। ईश्वर से श्रावण लगाना और उपनिषत् यज्ञकर्म को ध्यान में देखें।

यज्ञ में व्याख्यानों में कर्मकाण्ड की हानि—

आज कर्मकाण्ड की दुर्नति में पड़ी भारी मात्रा में व्याख्यातक एवं व्याख्यानों की पत्रों में प्राधान्यता हो जाने से उपनिषत् ही पड़ी है। जिस प्रकार से व्याकरण में अस्मिकताओं में उपलब्ध भाग से आश का संशयन भक्त जाना है या जिस प्रकार मन्वास्याय के अन्वेषण-अन्वेषणका माया-जाल में बँस जाने से अर्थात् पत्रों में उपलब्ध जाता है और जहाँ उपनिषद् ही पड़ी जाती, उन्हीं प्रकार पत्रों में व्याख्यानों के प्रवेश के कारण कर्मकाण्ड की हानि भी बढ़ जाती है और लोग भी कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर व्याख्यान-श्रवण को ही यज्ञ की इतिवृत्तभूता समझने लगे हैं।

व्याख्यानों से यज्ञ हिनित होता है—

महृषि वेदकण्ड (२१८) मन्त्र-अपठना, नमस्वती तपेत्प्रायः—के प्रायः में उपमान और यज्ञ कर्त्तव्यताके विद्वानों के लिए लिखा है कि वे यज्ञ—‘प्राकृत अनुष्ठानों की आधास्त्री कर्म से रहित होंगे।—यह पत्रों सम्भव है उचित से तोरनाथा के व्याख्यान-श्रवण आदि की यज्ञ में न करे। वे—यज्ञ उपधीत न या हिनितम्। यद्यपि यज्ञो अन्तम्—

यज्ञ की और यज्ञ के पालन करनेवाले यजमान को पीड़ित न करें । वे जाज ह्य लोगों के लिए मज्जल करनेवाले हों । यदि व्याख्यानादि ऐसे तो वेदमन्त्रों के पाठ की हानि, यज्ञ की आहुतियों की हानि, परमात्मा की उपासना की हानि ही होगी । यही यज्ञ की हिंसा, यज्ञ का नाश है । यज्ञ की हिंसा से यजमान भी पीड़ित होता है, अतः यज्ञ और यज्ञपति दोनों का मज्जल हितारहित यज्ञ से ही सम्भव है ।

व्याख्यानरहित होय संहितित रहता है—

मनुष्यों की प्राकृत भाषा से रहित यज्ञ अर्द्धसित और कल्याणकारी रहता है, अतः यज्ञ में, कर्म के अतिरिक्त—व्याख्यान, भजन आदि कुछ भी नहीं करना चाहिए, जबतक किसी विधिबिधेय में इसका विधान न किया हो । इसी से यज्ञ की भी रक्षा होती है । इसी हेतु से यज्ञ में ब्रह्मा के बोलने का निषेध गृह्यसूत्रों में निम्न शब्दों में किया है—

दक्षिणतोऽग्नेरवह मुक्षन्तुध्वोमासते ब्रह्मा द्याहोमात् ।

कुण्ड के दक्षिणमान में उत्तराभिमुख होकर ब्रह्मा यज्ञ-समाप्ति-पर्यन्त चुप होकर बैठता है । इससे स्पष्ट है कि यज्ञ में वाचानता या ब्रह्मा आदि के द्वारा व्याख्यानों का किया जाना गृह्यरूप से निषिद्ध है ।

ब्रह्मा यज्ञ में क्या बोले—

यज्ञ में ब्रह्मा को यदि बोलने की आवश्यकता पड़े तो—भाषेत यज्ञसंसिद्धिम्—गोभिलगृह्यसूत्र १।६।१७—अर्थात् होता के द्वारा अग्न्या कर्म किये जाने पर उस कर्म की संसिद्धि के लिए 'यह कर्म करो, ऐसा करो' यह कहे । इसके अतिरिक्त कुछ न बोले । केवल सब कार्यों का मौन होकर निरीक्षण करे और—

नाऽवसिद्य वाचं भवेत् ।

—गोभिलगृह्यसूत्र १।६।१८

यज्ञ में अवसिद्य वाणी अर्थात् प्राकृत या लौकिक वाणी—भाषा का प्रयोग न करे । जब प्राकृतवाणी बोलने का निषेध है और केवल मन्त्र तथा कर्म कराने के आदेश निमित्त बोलने का विधान है तो यज्ञ में व्याख्यानादि आहूतों का स्पष्ट निषेध हो जाता है । इसी की पुष्टि शतपथ के प्रमाण से भी होती है ।

व्याख्यानानि यज्ञ में असुभ कार्य है—

शतपथ १।२।२।२ में यज्ञ में मानुषी भाषा न बोलने के बारे में लिखा है—

अगुप्तं वै तद्व्यस्ये यन्म्यागुप्तं वेद्व्यागुप्तं यज्ञं करधामोति ।

जो मानुषी भाषा है वह यज्ञ में अगुप्त है। यज्ञ में अगुप्त नहीं करना चाहिए।

व्याख्यानादि से यज्ञ की अपविष्टता—

यज्ञ में वेदवाणी के अतिरिक्त अन्य वाणी का प्रयोग करने से अपविष्टता होती है इसका प्रतिपादन गोपिनगुप्तमूत्र १।२।२० में निम्न प्रकार किया गया है—

अथे अगुप्ता वावा सुचिर्भूताः ।

यहो अविष्टता अमज्जलकारक है। अमज्जल दण्डकल का बाधक होता है, अतः अमज्जल ही यज्ञ को हिसित करता है। यज्ञ की हिंसा से यज्ञ का नाम होता है। इससे यज्ञवर्ति की श्रद्धा का भी लोप होता है, अतः वेद में कहा है—

वा यज्ञं हिसिष्टं वा यज्ञवर्तितम् ।—यजु= २।२

यज्ञ को किसी भी प्रकार से हिसित—कष्ट न करो और यज्ञमाल को भी यज्ञ के द्वारा अहिंसित हो रखो। यज्ञ की हिंसा सर्वप्रथम दधी से होती है कि जो वाणी यज्ञ में नहीं बोली चाहिए उसे बोला जाए, यथा लैनकर, व्याख्यान, गोकपील, बाली आदि। यज्ञ की दूसरी प्रकार से हिंसा अगुप्त एवं स्वर-विषयील मन्त्र बोलने से होती है और अने का अर्थ ही जाता है। यज्ञ की तीसरे प्रकार से हिंसा अगुप्ता कर्म करने से होती है। इन अनेक प्रकार से यज्ञ की हिंसा से बचाने पर ही यज्ञवर्ति (यज्ञमाल) को भी हिसित वा पीडित होने से हम लभी बचा सकते हैं जब हम यज्ञों को विधिपूर्वक करें और करार्थ तथा अगुप्त श्राद्धों से बचें, अगुप्ता यज्ञ कुटिल ही जाता है। वेद में कहा है—

वा ह्यः (यजु= १।२) अर्वात् यज्ञं कुटिलं मात होने दो—यज्ञ को कष्ट मत करो और न उसको त्यागकर अन्य कर्म ही करो।

यज्ञ में मानुषी वाणी बोलने पर प्रापश्चित्त का विधान—

यज्ञ में वेदवाणी के अतिरिक्त यदि किसी कारणवश अन्य मानुषी वाणी का प्रयोग आवश्यक रूप से उत्पन्न हो जाए तो उसका प्रयोग करने पर दोष, अमज्जल, अपविष्टता आदि होती ही, उस दोष की निवृत्ति के लिए प्रापश्चित्त का विधान किया गया है।

गोपिनगुप्तमूत्र १।२।२० में उक्त दोष के निवारणार्थे यह उल्लेख है कि—

ओमित्युच्चैस्तस्मै नमः । तन्माता इत्युपांशुः ।

यज्ञ में मानुषी वाणी का प्रयोग हो जाने पर ओम् का उच्च स्वर से उच्चारण करके—**तस्मै नमः । तन्माताः**—इन वचनों का उपांशु जप करे—जोर से उच्चारण न करे ।

खादिरगृह्यसूत्र में उक्त दोष के निराकरणार्थ आदेश दिया है कि—

अपजियां वा व्याहृत्य महाव्याहृतीं जपेत् । इदं विष्णुरिति वा ऋचम् ।

यदि यज्ञ में वेदातिरिक्त दूसरी वाणी का प्रयोग करे तो महा-व्याहृतियों का जप करे अथवा—**इदं विष्णु०**—(यजु० ५।१५) इस ऋचा का जाप करे ।

इसी प्रकार शतपथ १।१।५।६ में उक्त दोष के निराकरण के लिए लिखा है—

**स यदिच पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् । तस्यो वंश्वयीमृचं वा
पनुर्वा जपेत् । तस्यो हेवा प्रायश्चित्तः ।**

यदि यज्ञ में वेदवाणी को छोड़कर अपनी वाणी या भाषा का प्रयोग करे तो वंश्वयी ऋचा—**उरु विष्णो०**—(यजु० ५।४१) इस मन्त्र का जाप करे । यह निश्चय से उसका प्रायश्चित्त है ।

इसी प्रकार 'प्रतिपत्तिर्वैभव' में लिखा है कि—

धियं हरेत् ॥

होम के समय अन्य वाणी बोलने से धी का हरण, नोष या नाश होता है ।

अतः यज्ञ को अहिंसित, पवित्र और मङ्गलकारक करने के लिए यज्ञसमय में व्याख्यान, गीत, वार्तादि कुछ नहीं होना चाहिए । यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् जितना व्याख्यान देना हो दे, परन्तु यज्ञ के मध्य में नहीं ।

यजान्त-कर्म

वेदमन्त्रों का गायन—

महर्षि दशानन्दजी ने संस्कारविधि में मंगलम १३ स्थानों पर यज्ञ के जन्म में महावामदेव्यगान गायन करने के लिए आदेश दिया है। श्रीमन्मोक्षदान संस्कार में—सोम एवं नौ राज्ञेया मानुषीः प्रजाः। ऋषिभूक्तचक्र सासीरस्तोरे तुन्धमसो—इस मन्त्र तथा अन्य मन्त्रों का भी गान करने का लिखा है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यज्ञों में एवं यजान्त में मन्त्र-गायन ही होने चाहिए।

महावामदेव्य गायन—

समस्त सामगायनों में महावामदेव्यगान ही ऐसा है जो समस्त सामों की पूर्ति करता है। महर्षि दशानन्दजी ने संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण के जन्म में मज्जतकार्य नाम में वामदेव्य और महावामदेव्यगान करने का लिखा है। वामदेव्य मन्त्रों के साथ प्रणव एवं ब्याहृतियों की तीनों वामदेव्य मन्त्रों में प्रयुक्त करने लिखी है। परन्तु महावामदेव्यगान लिखने के साथ प्रणव एवं ब्याहृति के सामात्मक गान का बड़ा उल्लेख नहीं हो सका। यदि इनके भी यहाँ गायनका का उल्लेख हो जाता तो और भी विशेषता हो जाती। महर्षि के वामदेव्यगान में प्रणव एवं ब्याहृति का भी उल्लेख है—यह बड़ी विशेषता है, अतः उसका भी सामात्मक गायन महावामदेव्य के साथ वा स्वल्प रूप से होना चाहिए।

महावामदेव्यगान की उपयोगिता

गोभिलसूत्रमूत्र १।६।२६ में लिखा है कि—

अथ क्लृते कर्मणि वामदेव्यगानं सामवर्षे सामवर्षेण् ॥

यज्ञ की समाप्ति पर वामदेव्यगान सामिन् के निमित्त होता है—सामिन् के निमित्त होता है, अतः अन्य प्रकार के लौकिक मीत एवं अन्य मन्त्रों का गान यज्ञ के जन्म में नहीं होना चाहिए, यह सामान्य व्यवस्था है। परन्तु विशेष यज्ञों में अनेक प्रकार के सामगायनों की जो व्यवस्था है तदनुसार सामगायन होगा। वे सामगायन मनोरञ्जनार्थ

नहीं होते बलितु प्रयोजनविशेष से होते हैं; यज्ञ में मनोरञ्जनार्थ गाने का विधान नहीं है।

महाब्रह्मदेव्यगान का महत्त्व—

समस्त सामगानों में महाब्रह्मदेव्यगान का अधिक महत्त्व है। जिस प्रकार से गायत्री छन्द को समस्त छन्दों की माता कहा जाता है और गायत्री मन्त्र को वेद-माता कहा जाता है तथा इसी मन्त्र व छन्द की साधना को श्रेष्ठ माना गया है और इसी की साधना के अन्तर्गत सब साधनाओं का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार रघुनन्द, बृहत्, वैराज, शाक्यर और रैवत आदि सामगान ब्रह्मदेव्यगान के ही आश्रित हैं। यही उनकी मूल प्रकृति है। इसी के पृष्ठ पर अन्य साम वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसी के आश्रित पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक एवं इनके आश्रित प्राणी भी इसी से तृप्त होते हैं और इन स्वानों के मिथ, वरुण, प्रजापति, अग्नि, इन्द्र एवं विश्वदेव आदि सभी देवता इस महाब्रह्मदेव्यगान में समान भाग प्राप्त करते हैं। इनसे महाब्रह्मदेव्यगानों का गान उन्हीं स्वरो में करना चाहिए, लोकतजों या रागों में नहीं।

ब्रह्मदेव्यगान के साथ वीणा—

ब्रह्म का वाद्य वीणा है। वीणा दो प्रकार की है। गायत्रीणा या हुस्तवीणा और दूसरी जो काण्डादि से निर्मित होती है। गायत्रीणा से सभी सामगायक सामान्यतया गान करते हैं। दात्री (काण्डमयी) वीणा से तो वे ही गान सकते हैं जिनको गायत्रीणा के साथ वाणी के स्वरो का भी वीणा के गान अम्नास हो। वीणा के यज्ञ में प्रयोग के लिए महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने श्रीमन्तोन्नयन संस्कार में लिखा है। वीणा तन्तुबाध है। वादित्य वादनपूर्वक पट्टादि स्वरो में वेद-मन्त्रों के गायन का उल्लेख ऋग्वेदादिभागवतसूक्तिका में महर्षि ने किया है। यह वर्तमान गायत्रीणा सामगान पद्धति से पूर्ण गायन है। यह गायन प्रकार अब लुप्त हो चुका है। महर्षि ने यही यह भी लिख दिया था कि वे यज्ञादि के अतिरिक्त आत्मा के रञ्जन के लिए होते थे। सामगान का सम्बन्ध प्रकृति के पदार्थ, स्वान एवं कार्यविशेष से सम्बन्धित है, वेदा कि महाब्रह्मदेव्य का समय यज्ञ की समाप्ति और प्रयोजन ज्ञानि बताना है; ऐसा ही सम्बन्ध अन्य सामगानों का भी है।

यज्ञसम्बन्धी कतिपय शंकाएँ एवं उनके उत्तर

शंका—समिधादान किया में दो मन्त्रों से एक समिधादान करना संगत नहीं है। एक मन्त्र से एक समिधादान होना चाहिए और दूसरे मन्त्र से दूसरी समिधा का, या यहाँ एक ही मन्त्र होना चाहिए था, दो नहीं। जब दो मन्त्रों के मध्य स्वाहा का भी प्रयोग है तो स्पष्ट है कि वहाँ समिधा की आहुति भी होनी चाहिए, नहीं तो दो मन्त्रों के मध्य स्वाहा का उच्चारण न करने दोनो मन्त्रों के अन्त में एक ही स्वाहा का प्रयोग करना चाहिए तब संगत हो सकता है।

उत्तर—यह शंका एक ऐसी पुरानी है कि इसका समाधान लोगों को नहीं मालूम हुआ है कि केवल तीन ही मन्त्र समिधादान के होने चाहिए, जब किसी ने एक मन्त्र कम कर दिया, किसी ने चार मन्त्रों में चार समिधादान का विधान कर दिया और किसी ने दोनो मन्त्रों के मध्य का स्वाहा एवं दूर्ध्वं नमस्य का भाग नष्ट करके दोनो मन्त्रों का पठना ही स्वाहा का प्रयोग प्रचलित कर दिया। इस प्रकार अनेक रूप में इसके समाधान व्यवहार में प्रचलित हो गये।

वास्तव में यज्ञों के दोनो कर्मकारण के मन्त्रों को देखने से अनेक प्रकार के कर्मकारण-सम्बन्धी गृहस्थों का ज्ञान लगता है। यह भी वास्तविक श्रेणी है कि दो या अधिक मन्त्रों के प्रयोग में सम्मान में स्वाहा का प्रयोग किया जाए और यह भी वास्तविक श्रेणी है कि दोनो मन्त्रों में स्वाहा का प्रयोग हो और केवल एक ही आहुति हो। ऐसे प्रयोगेन्द्र आहुति मन्त्र कहलाते हैं। बहुउच्चारणकोकल श्रेयस्कार्त्तव्य से संभव की तीस आहुतियाँ होती हैं। उनमें प्रथम छह आहुतियाँ इन्द्र-मजक हैं। उनमें मन्त्रों के प्रथम भाग में स्वाहा पर आहुति दी जाती है, अन्त में स्वाहा पर नहीं। शील का भाग सम्भवशक्तिमनुष्यक वाह्य किया जाता है। वहाँ मन्त्र निम्न प्रकार है—

द्योम् ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा। दूर्ध्वं श्रेष्ठाय श्रेष्ठाय नमस्य।
 इसी प्रकार छह मन्त्र इन्द्राहुति के हैं। इनमें चारह स्वाहा हैं परन्तु कुल छह बार ही द्योम् और छह बार ही आहुति का विधान है, अन्त-श्रेयस्कार्त्तव्य में भी समिधादान में प्रतीयमान दो मन्त्र इस कर्म

में एक मन्वन्तु दो स्वाहा से युक्त होकर इन्द्राहुति के परिचायक है।

क्योंकि तीन ही आधर्मों में व्रत होता है, अतः प्रथम समिधा प्रथम आधर्म की प्रतीक है। ब्रह्मनर्पाधर्म में ब्रह्मभारी स्वयं समिधाकल्प से एकाकी ही समिध हो रहा है। दूसरी समिधा द्वितीय आधर्म गृहण की प्रतीक है, जहाँ सब कार्य इन्द्रात्मक रूप से, सभी और पुरुष दोनों एक ही कर्म को सम्पन्न करते हैं, अतः दो मन्वों के संयोग से एक किया सम्पन्न करने की प्रतीककल्प एक ही समिधा की आहुति है। तीसरी समिधा वानप्रस्थाधर्म की प्रतीक है। उसमें भी एकाकी जीवन है, अतः प्रथम और तीसरी समिधा का एक ही मन्व है। इस प्रकार जीवन की क्रिया के साथ समिधादान की क्रिया सञ्जुत है। इसी का प्रतीक समिधादान का प्रतीक है।

इस दृष्टि से तथा आधोन कर्मकाण्ड की परिभाषी के अनुसार व्यवहार प्राप्त होने से दो मन्वों में एक समिधादान का प्रयोग जिस रीति से महर्षि ने किया है वह पूर्ण सञ्जुत है। इसमें किसी संशोधन, परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग अपनी अल्पज्ञता के कारण ऋषि के मन्वों में जहाँ-जहाँ अपूर्णता देखते हैं वहाँ वास्तव में ऋषि की अपूर्णता नहीं है अपितु हमारी ही अल्पज्ञता है।

संका—व्रत में पत्नी का स्वाम नाम भाग में हो वा दक्षिण भाग में ? स्त्री को वामाङ्गी कहते हैं इसलिए उसका स्वाम नाम भाग में ही होना चाहिए। विवाहसंस्कार के द्वारा स्त्री को वामाङ्गी बनाया जाता है और उसको विवाह की पूर्वेविधि पूर्ण होने पर वाम भाग में बँटाया जाता है, अतः पत्नी के वामाङ्गी बन जाने पर उसका यहाँ में वाम भाग में ही स्वाम होना चाहिए।

उत्तर—व्रत में पत्नी का स्वाम पति के दक्षिण में ही है। व्रत का यह सामान्य नियम है कि पत्नी व्रत में दक्षिण भाग में ही बैठे जब तक कि वाम में बैठने का कहीं विधान न किया हो। वामाङ्गी नाम स्त्री का इसलिए नहीं है कि वह सदा वाम भाग में ही रखी जाए। व्रत की परिभाषा का यह शब्द नहीं है, न वेद का है। यह तो लौकिक साहित्य का है जिसका अर्थ है सुन्दर अङ्गोपानी। विवाह की किसी विधि में कहीं भी स्त्री को बाईं ओर बिठाकर उसे वामाङ्गी बनाने का विधान दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यह तो मनमानी आज

वामाङ्गी जन्म के कर्मकारणविकल्पा जर्ज को कर्मकारण में ही प्रधानता देने से हो रही है ।

जो लोग वामभाग में बैठाने के पक्ष में हैं, वे अपने पक्ष में कहीं का भी प्रमाण उपनिम्न नहीं कर सकते । जब इनके लिए कोई आस्त्रीय प्रमाण नहीं है तो वह अशास्त्रीय कर्म ही है । उनके इस पक्ष के प्रतिकूल पक्ष में दक्षिण भाग में बैठाने के प्रमाण तो वेद एवं स्मृतियों में प्राप्त होते हैं, यथा—

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १२३, म= १ के दक्षिणाधः शब्द का भाष्य करते हुए पं० श्री जगदेवजी विश्वानन्दगुप्त, श्रीमान्मार्तीर्य ने लिखा है—“पश्च मे वायं भाल मे विराजनेधानी तधु का” । इसी प्रकार स्मृति-ग्रन्थों में—

धातुं पश्चं विवाहे च पत्नी दक्षिणतः सदा ।

—कदाचित् पात्रवलयस्मृति ६।११

कन्यादाने विवाहे च प्रतिष्ठापयन्नकर्मणि ।

सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः स्मृता ॥८२॥

—व्याख्यास्मृति

दक्षिणं व्रतति पत्नी हृदये देवताधने ।

सुधुत्कारतिकाले च वामभागे प्रशस्यते ॥८५॥

विद्यु स्थानेषु वा पत्नी वामभागे प्रशस्यते ।

पारशीचे पितृणां च रथारोहे ऋतो तथा ॥८७॥

धातुं पत्नी च वामागि पारप्रथमने तथा ।

ताग्री धातुं च होमे च मधुपर्कं च दक्षिणं ॥८८॥

—व्याख्यास्मृति

सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतो भवेत् ।

धर्मिके विप्रवाहकाले वामतः सदा ॥८७॥

—संस्काररत्नमाला

इत्यादि जनेक ग्रन्थों में पक्ष में सर्वत्र सामान्य रूप से पत्नी का दक्षिण ही स्थान उनको भी मान्य है जिन्होंने वामाङ्गी के रूप में निचरों को वामाङ्ग माना है । स्त्री वामाङ्गी कहाँ होती है, कहाँ नहीं, इसके लिए उपरोक्त प्रमाण बहुत उत्तम हैं ।

कुछ लोग उपरोक्त प्रमाणों को देखकर यह भी कह सकते हैं कि आर्यघन्य का प्रमाण होना चाहिए । ऐसे लोगों से विवेक है कि वेद

का प्रमाण तो हमने पूर्व ही दे दिया है तथा गृहिणियों ने तो दो-दोई हजार बन्धों को आर्ष माना है। वे किसी भी आर्ष या अनार्ष ग्रन्थ से वे अपने पक्ष में प्रमाण उपनिवृत करें। जब कोई ऐसा प्रमाण उनके पक्ष का है ही नहीं तो जो बात अपने को मान्य नहीं उसके प्रतिकूल विषयमें प्रमाण मिल जाए तो अनार्ष ग्रन्थ कहकर शर्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। शर्य जहाँ भी प्राप्त हो शर्य ही है। उसे मानना ही शर्य के पट्टण और असत्य के त्याग का स्वरूप है। दश-पीठमान आदि यज्ञों में दक्षिणाग्निकुण्ड दक्षिण दिशा में बनाया जाता है जिसमें पाकक्रियाएँ पत्नी ही करती है। यह भी पत्नी की स्थिति दक्षिण में ही प्रकट करता है।

मनुस्मृति में कहा है—

पिता ये गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।

पुषराह्यनीपत्यु माग्निप्रेता गरीयसी ॥

—मनु० २।२२८

यहाँ पिता को गार्हपत्य और माता को दक्षिणाग्नि कहा है। गार्हपत्यकुण्ड के दक्षिण भाग में ही दक्षिणाग्निकुण्ड होता है, अतः पुष्य के दक्षिण भाग में ही यज्ञादि में स्त्री का स्थान सभी ऋषि-मुनि, गुरु एवं कल्पकारों को प्राचीनकाल से मान्य है। यही हम सबको भी मान्य करना चाहिए।

जो लोग विवाह में वधु को वामाङ्ग में स्थान परिवर्तन करके बैठते हैं वे विवाह की विधि का उल्लंघन करते हैं। गृहिणियों स्वामी दयानन्दजी ने अपनी विवाहपद्धति में कहीं भी वधु को वामभाग में बैठाने को नहीं लिखा है। विवाह की कुछ विधि वधु के घर में होती है जिसमें पूर्वविधि और उत्तरविधि हैं। दोनों विधियों में वधु को दक्षिण में ही बैठाने का विधान किया है। तत्पश्चात् घर के घर पर जाने पर भी जो यज्ञ की विधि होती है उसमें भी पत्नी को दक्षिण भाग में ही बैठाने की लिखा है। ऐसी अवस्था में विवाह में जगनों की शेरारक्षारी एवं वामाङ्गी करना व बताना अज्ञात्मीय ही है, अतः पत्नी का स्थान यज्ञ में सदा दक्षिण में रहेगा जबतक कि किसी क्रिया-विशेष के लिए वा यज्ञविशेष में पत्नी को वाम भाग में बैठाना न लिखा गया हो।

शंका—आजकल यज्ञों में कर्मकाण्ड के मध्य में आराध्यान भी दिये

जाते हैं उनसे वज्र की रोशनीका बह जाती है। वज्र में भाव देनेवाले ऊँको भी नहीं है और उसकी वज्र के प्रति शक्ति भी बहती जाती है, जानन्द भी वृष जाता है तथा बिना जपे के मन्त्रों का लाभ भी क्या?—क्या साम्प्रोच दृष्टि से भी यह ठीक है?

उत्तर—सामान्य व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से यह ठीक प्रतीत होता है, परन्तु साम्प्रोच दृष्टि से यह सर्वथा विपरीत कर्म है। वज्र के समय ही परमात्मा का ही ध्यान-विस्तार करते हुए कर्मकाण्ड में लगे रहना चाहिए, परन्तु इस समय व्याख्यानानादि प्रमुखतः बीकर-उत्पन्न आदि के विषय ही किये जाते हैं, अतः वज्र के समय इस प्रकार के व्याख्यानानादि वज्र के मध्य से तथा परमात्मा के ध्यान में विलय को हटाकर बीकरउत्पन्न में ही प्रवृत्त करा देने हैं।

महर्षि दयानन्दजी ने संस्कारविधि की भूमिका में संस्कारों के मन्त्रों के अर्थ-न लिखने के प्रसङ्ग में लिखा है कि—“यहाँ तो केवल क्रिया करना ही मुख्य है जिसके द्वारा शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने में कर्म, जप, काम और मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अध्याय पोष्य होते हैं। इसलिए संस्कारों को करना सब मनुष्यों को अनिवार्य है।” हमसे प्रतीत होता है कि महर्षि संस्कारों को वा कर्मकाण्डों की क्रियाप्रधान ही मानते हैं, जो कि क्रियाएँ उन-उन तत्त्वों में संस्कारों के अन्वय पर करना लिखी है न कि व्याख्यानों की। व्याख्या वा भाष्य के विना उन्हें लिखा है कि—

“जो (जप) देखना चाहें वे यहाँ (विशेषण) में देख लें।”

परन्तु आजकाल यज्ञों के कर्मकाण्डभाग को कम कर देने एवं व्याख्यानभाग को बढ़ाने की प्रथा चल गयी है, वह महर्षि की दृष्टि से ठीक प्रतीत नहीं होती। वज्र वा संस्कार के बाद उसका व्याख्यान या उसपर प्रवचन ही वह ही उचित है, परन्तु कर्मकाण्ड के समय कर्मकाण्ड को ही प्रधानता रखनी चाहिए। महर्षि ने सामान्य उक्तवचन के अन्त में भी लिखा है कि—“कर्म करानेवाले शान्ति, धीरज और विचारपूर्वक कर्म से कर्म कर और करावें”—यहाँ पर भी कर्म का ही उल्लेख है न कि व्याख्यानानादि का, अतः वज्र में कर्मकाण्ड के समय कर्मकाण्ड ही करना चाहिए और उसके पश्चात् प्रवचनानादि करते हुए वज्र में प्रयुक्त मन्त्रों का अर्थ भी समझना चाहिए।

वज्र के मध्य में इस प्रकार वोलने का विषेय है, तथा इस प्रकार

बोलने से बोध होता है ऐसा आत्मों में विधान है जैसा कि—दस्यूर्ध्व-
मान पठति मे—

न मानुषी प्राकृता वाचमुच्चारयेदपितु प्रयोजनवती-
मन्वाधरा संस्कुत्वाधमेव सख्यसरे वदेत् । मध्ये
ध्रमादिता मानुष्या वाच उच्चारयेद्ब्रह्माध्वयर्ध्वध्र
उचक्षिष्यो० इति वेत्त्यधमन्त्रं ज्ञेयम् ।

इस प्रकार यज्ञकर्म के लिए प्रेरणा देने आदि के अतिरिक्त अन्य
मानुषी लोकभाषा के शब्दों का प्रयोग न करने का ही विधान किया
है । यदि लोकभाषा का प्रयोग ध्रम से वा अनावधानी से हो जाए तो
उचक्षिष्यो० मन्त्र के अपूर्वक प्रायश्चित्त करे ।—इस वाक्य से स्पष्ट
है कि यज्ञों के मध्य में जो व्याख्यान देने की प्रथा चल पडी है वह
बिल्कुल त्याग्य है । इसका निषेध तो है ही, बोध भी होता है और
उसका परिहारकार्य भी करना पड़ता है ।

सत्यम ब्राह्मण में भी कहा है—

“स ह यद्विदं पुरा मानुषी वाचं ब्रह्माहरेत्सो वेत्त्यधीमूचं
वा यजुर्वा ज्ञेयम् ।” तस्यो ह्येषा प्रायश्चित्तः ।”

यदि यज्ञ में मानुषी वाणी का उच्चारण करे तो वेत्त्यधमन्त्र को
अपे—उसका यह प्रायश्चित्त है—के वाक्य भी स्पष्टरूप से यज्ञ में
कर्मकाण्ड के समय अपने व्याख्यान आदि का निषेध ही करते हैं ।

मन्त्र-व्याख्यानों का नाश है, अतः उनको भी अपने स्थान पर यज्ञ
के बाद करना चाहिए परन्तु कर्मकाण्डयज्ञ को व्याख्यानयज्ञ नहीं बना
देना चाहिए । जिसको वेदादि का और कर्मकाण्ड का अभ्यास नहीं है
वे अपना पाण्डित्य व्याख्यानों को रोचक बनाकर जनता को उतारने
एवं प्रभावित करने के लिए करते हैं । यह यज्ञ का उद्देश्य नहीं है ।
ऐसे व्यक्ति कर्मकाण्ड को धर्मार्थकाममोक्षरूप संस्कार से रहित करके
मनोकिरीट करके संस्काररहीन बना देते हैं ।

गोपितवृत्तानुच में लिखा है—“अन्ते भगवता वाचा मुचिर्भूत्वा”—
अर्थात् देववाणी के अतिरिक्त अन्ववाणी का यज्ञ में प्रयोग करने से
अपवित्रता होती है, अतः यज्ञों में अपनी वाणी का व्याख्यान-अजनादि
द्वारा विविध प्रकार का प्रयोग करके यज्ञ को अपवित्र एवं अष्ट नहीं
करना चाहिए । इसी प्रकार अन्य सूत्रधर्मों में भी निषेध है ।

प्रश्न ६१—संस्कार या ब्रह्मवि के अन्त में आन्तिष्ठा करता चाहिए या नहीं ?

उत्तर—यदि कोई कर्म किया जाता है तो उसके पूर्व में ही स्वस्ति एवं आन्ति की भी दृष्टा होती है, अतः स्वस्ति एवं आन्तिनिमित्त माहृषि में स्वस्तिवाचन एवं आन्तिकरण के मन्त्रों को बोलने को लिखा है तथा किन्हीं विशेष स्थानों पर स्वस्तिवाचन एवं आन्तिकरण के मन्त्रों तथा केवल स्वस्तिवाचन के मन्त्रों को अन्त में बोलने को लिखा है और कामदेवनाम के लिए सामान्य प्रवचन में ही ब्रह्मोवासादि में लेकर संवत्स-संस्कारार्थमें करने को लिखा है। इसके अतिरिक्त अन्ते अन्त में संस्कारानुसार जाणोपेनम बोलने को लिखा है। विश्वाम्-संस्कार के अन्त में तो माहृषि ने लिखा है कि "यद्, पर एव पितृ आचार्य और गुरोहित से कहे कि—स्वस्ति भवन्तो ब्रह्मन्—अर्थात् धर्म योग स्वस्तिवाचन करे।" स्वस्तिवाचन का पाठ हुए पश्चात् कामदेव धारण हुए सर्वोत्तम गुरु—**"सो स्वस्ति सो स्वस्ति सो स्वस्ति"** एवं वाक्य को बोल देना माहृषि ने लिखा है। वही भी **दोः आन्ति** केवल एन मन्त्र का अन्त में बोलने का विधान नहीं किया है। यह प्रवचन सामान्य स्थानों से स्वस्ति से प्रवर्तित कर दिया है, अतः यदि यहाँ में आन्तिष्ठा **दोः आन्ति** से न किया जाए तो पर ही अपूर्णता किसी प्रकार से नहीं है, वह पूर्ण ही है।

कतमान समय में इस ब्रह्मसंस्कार अङ्ग मान लिया गया है, परन्तु जो कर्मवशा से जाता है और किन्हीं स्थानों को देखा है उनको इसमें आपत्ति उत्पन्न होती है कि यदि सामान्य जगत् अर्थात् परम्पराओं को अर्थात् स्थान में ही संस्तुत है और अर्थात् प्राकृतानुसार ही यहाँ का विधान बनाने जैसी ही सामान्य को आचार्यों और विद्वानों का उत्पन्न होने जैसा और मुरादा नहीं होती।

माहृषि ने ब्रह्मसंस्कारार्थमें अन्त में अन्त में करने को ही लिखा है वही वाचन में समाहित का आन्तिष्ठा है। पाणिन-गुणधुष में लिखा है कि—**अवसृते कर्मणि कामदेवनाम आनन्दार्थे आनन्दार्थे आनन्दार्थम्**—अर्थात् कर्मों की समाहित पर आन्ति के निमित्त कामदेवनाम करना चाहिए। माहृषि ने ब्रह्मसंस्कारार्थमें अन्तिष्ठा की ही प्रवर्तित करने का हमारे लिए आदेश दिया है, पर हमने उसकी उपेक्षा की।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी के ग्रन्थों के अन्त में, पूना के उनके व्याख्यानों के अन्त में कहीं भी **श्रीः शान्तिः०** मन्त्र से शान्तिपाठ की अनिवार्यता या उसके न होने से अपूर्णता का भाव प्रकट नहीं होता, प्रत्युत सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में तो ग्रन्थ के प्रारम्भ के मन्त्र के साथ ही **श्रीः शान्तिः शान्तिः शान्तिः** का प्रयोग किया है। सत्यार्थप्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ के अन्त में महर्षि ने इसका प्रयोग नहीं किया है। ऐसी अवस्था में यदि कभी कोई विद्वान् इस बात पर ध्यान आकृष्ट करे कि यज्ञ के अन्त में शान्तिपाठ अनिवार्य नहीं है तो वह अयुक्त नहीं है। हमने अपने व्यवहार में प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर **श्रीः शान्तिः** मन्त्र से शान्तिपाठ को इतना अपना लिया है कि उसके न करने पर एक न्यूनता-सी प्रतीत होने लगती है। विधान की दृष्टि से वह वैधानिक नहीं है। परन्तु इस कार्य को असङ्गत भी नहीं कह सकते हैं। **श्रीः शान्तिः०** मन्त्र का कार्य समाप्ति के शान्तिपाठ के रूप में विनियोग सङ्गत प्रकार है। सभा आदि स्थलों में समाप्ति पर करना चाहें तो करें। यज्ञादि में भी प्रयोग अन्त में करना चाहे तो कर सकते हैं, परन्तु महावामदेव्यगानादि की उपेक्षापूर्वक नहीं। □

संन्यासी और यज्ञ

—स्वाधो मुनोऽथराजन्वजो लोचं

शंका—आर्यसमाज के अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानों का विचार है कि पुराणिक संन्यासी के यज्ञोपवीत नहीं होता और यज्ञ-यागादि कर्म यज्ञोपवीतो होकर ही करने-कराने होते हैं, और संन्यासी ने यज्ञोपवीत त्याग दिया होता है, अतः उसे अग्निहोत्रादि कर्म नहीं करने चाहिए, मार्गदर्शन कीजिए !

समाधान—एक विषय में हमारा निवेदन है कि संन्यासी ज्ञानशिकी और ज्ञानयज्ञोपवीतो होता है अर्थात् ज्ञान-शिक्षामुपबन्धु होता है। आकाशकृतानुसार विहित वाद्य यज्ञोपवीत धारण करने में किसी भी संन्यासी को कोई आपत्ति नहीं है। शिक्षा के लिए मात्र जिर का स्पर्श करना पर्याप्त है जिससे शिक्षा की रचना होने में शिक्षा-सम्बन्धी आवाभिव्यक्ति हो सके। हिन्दी का एक प्रसिद्ध इस प्रकार है "कर का मतका छोट के मन का मतका फेर" इसके अनुसार जैसे एक उष्ण-कोटि का साधक कर का मतका छोड़कर मन का मतका फेरता है, ठीक इसी प्रकार संन्यासी कर्मों का यज्ञोपवीत उतारकर अन्तर का ज्ञानशवी अनेक पहन लेता है। इसी कारण संन्यासी को ज्ञानयज्ञोपवीतो कहा जाता है—

शिक्षा ज्ञानमयो यस्य उपवीतश्च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मशिवो विदुः ॥२२॥

—भारतपरिशाजकोटिशिष्यः । तृतीयोपदेशः ।

मुमुक्षोरन्तःशिक्षोपवीतधारणम् ।

बहिर्लोकप्रमाणशिक्षोपवीतधारणं कमिषो गृहस्थस्य ।

—परब्रह्मार्पणपद

ब्रह्मवेत्ता—वेदवेत्ता लोच ऐसा जानते और मानते हैं कि जिसके ज्ञानमयी शिक्षा और ज्ञानमय ही यज्ञोपवीत है वह पूर्णरूप में ब्राह्मण है ॥२३॥

मुमुक्षु अर्थात् संन्यासी ज्ञान के रूप में आन्तरिक शिक्षा और

आन्तरिक ही यज्ञोपवीत धारण करता है। बाह्य दीपनेवाले जिज्ञा-
सूत्र सामारिक कर्म करनेवाला गृहस्थ धारण करता है।

येन सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रं मन्विमथा इव ।
तत् सूत्रं ध्यायेद् योगी योगविद् ब्राह्मणो यतिः ॥४
नाशुभित्वं न बोधिद्वन्द्वं तस्य सूत्रस्य धारणात् ।
सूत्रमनन्तरं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतनाम् ॥५
ये तु सूत्रविद्यो लोके ते वै यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानसिद्धिना ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥७

—परब्रह्मोपनिषद्

‘सूत्र नाम वहं यज्ञम्’—(परब्रह्मोपनिषद्) परमदेव परमेश्वर का नाम सूत्र है। इसलिए सूत्र में मनको की भाँति जिज्ञा सूत्ररूप ब्रह्म में वह अश्विन निम्न विरोधा हुआ है, योगविद् ब्राह्मण—यति—संन्यासी उसी सूत्ररूप ब्रह्म का ध्यान करे। उस ब्रह्मरूप सूत्र—यज्ञोपवीत के धारण करने में संन्यासी कभी अन्वयि और उच्छिष्ट नहीं होता। इसलिए ज्ञानयज्ञोपवीती संन्यासियों—जिनके हृदय के अन्दर यह ज्ञान-सूत्र पहुँच गया है और जिन्होंने सूत्ररूप ब्रह्म को जान लिया है वास्तव में वही यज्ञोपवीती है। ऐसे ज्ञाननिष्ठ संन्यासीजनों को ज्ञानसिद्धिवाले और ज्ञानयज्ञोपवीतवाले कहा जाता है ॥४५६७॥

प्रथममेवाहय यज्ञोपवीतम् ॥—प्राज्ञकल्पयोगनिषद्

प्राज्ञकल्पयोगनिषद् के इस वचन में इस संन्यासी का प्रथम ही यज्ञोपवीत कहा गया है। यज्ञोपवीत भी विद्वत्—विनदा होता है और प्रणव भी अ उ म् इस प्रकार विद्वत् (विनदा) होता है।

कहा जाता है कि संन्यासी ने दीक्षा के समय यज्ञोपवीत उत्तर दिया होता है फिर इसे कैसे धारण करे, क्योंकि यज्ञानुष्ठान के लिए तो ब्राह्म-
चिह्नरूप में यज्ञोपवीत होता आवश्यक है। जो निवेदन है कि गोभिल-
गृहसूत्रकार आचार्य गोभिल यज्ञोपवीत का स्वरूप वर्णन करते हुए
कहते हैं कि—

यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वा वन्यं वा कुशरज्जुमेव वा ।

—गोभिलगृहसूत्र प्रपाठक १, कपिलका ३, सूत्र १

सूत्र, वन्य और कुशरज्जु इन तीनों का यज्ञोपवीत के रूप में उपयोग हो सकता है, अतः एक संन्यासी जब किसी यज्ञ-वागादि कर्म को करने बैठेगा तो ब्राह्म-चिह्न के रूप में चायं कन्धे के ऊपर से

और दावे हाम के नीचे से तर्जोपवीनवत् एक उपवस्थ धारण कर लेगा। इसमें किसी भी संघासी को कोई अपमान न होनी। प्रायः लोग इसी उम्र से उत्तरीय वस्त्र धारण भी करते हैं।

भ्यावहारिकतन में अनेक साध-संघासी प्रकार की लम्बे दिन में लिये महात्प विद्याओं के अन्वय के कारण छोटे-छोटे नगरो और ग्रामी में बैठकर यह एवं संस्कार आदि की आवश्यकताओं को सफलतापूर्वक पूरा करते हुए निरन्तर वैदिकधर्म के प्रकार में लगे हैं। उन्हें इसी तरह लगे रहने देना चाहिए। अगर कतिपय विद्याओं की सम्भवा के अनुसार वे आज यह अन्वय संस्कार कराना बन्द कर देते हैं तो उन छोटे-छोटे नगरो व ग्रामी में रहनेवाले लोगों आर्षेनर-नारी के सामने एक बहुत बड़ी कठिनाई का आणगी। वे सामप्रचारक संघासी महानुभाव प्रायः पंडित बनते हैं। यही आवश्यकता हुई तो भांडी वाधा देव वा मोटर द्वारा करनी। जिन लोगों की प्रथमसंगी का मान-व्यय वा कारों का उपग्रह करने की मर्ति नहों है, उन लोगों में यही संघासीजन काम करते हैं।

बहुत लोग जानते हैं कि घन के धरो अनेक बीतराय लम्बी संघासी महानुभावों ने यज्ञों के साधन में कितने बड़े विशाल क्षेत्र में धर्मप्रचार किया, यथा—स्वामी नारायणानन्दजी माधवे के नेवाह क्षेत्र में जाम्बई नर-नारियों तक वैदिकधर्म का सन्देश सुनाने में सफल हुए जिससे आज भी मर्यादा नेवाही आर्षेनर-नारी भी स्वामीजी महाराज को याद करते हैं। इसीलिये धर्म विचार में हम अधिकार-अधिकार की उपखल में न उपशरर और भी अनेको विषय ऐसे हैं जिनपर विचार होना चाहिए और उनके लिए अपना मूल्यवान् समय बनाना चाहिए। माननीय आर्षेविद्वान् यदि उत्तर विचार करेंगे तो इससे आर्षेजन्ता का अधिक दिन होगा।

प्रश्न—अग्नेदादिभाष्यभूमिका में तो महर्षि ने संघासियों के लिए अग्निहोचानुष्ठान के लिए साष्ट निषेध किया है, यथा—

तेषां संघासिनां प्रामात्यानहोमो दोषेभ्य इन्द्रिवाथां मनसाश्च
 सदा निवर्तनं सत्यधर्मानुष्ठानच्छेवानिहोत्रम्। किन्तु पुषेधां
 यदावाग्देवायविनाधनुष्ठान् योभ्यं यद् बाह्यश्चिदाधयमसि
 संघासिनां तन्न।

—एक महानुभाव

सथाधान—अग्नेदादिभाष्यभूमिका के इस उद्धरण में संघासी

दैनिक अग्निहोत्र क्यों नहीं करता तो उसके समाधान के रूप में संन्यासी द्वारा इन्द्रियों और मन को दीर्घों से हटाकर अनुष्ठीयमान सत्यधर्माचरणरूप अग्निहोत्र का वर्णन है, क्योंकि संन्यासी दीक्षा के समय सब लौकिक बंधन त्याग देता है। गृहस्थ के समान उसके पास दैनिक अग्निहोत्र-अनुष्ठान के लिए साधन नहीं रह जाते तथा लोकोपकारक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण समय भी प्रायः नहीं मिल पाता, अतः लोकोपकार और सत्यधर्माचरण ही उसका अग्निहोत्र है, इसलिए नित्यकर्म के रूप में अनुष्ठीयमान अग्निहोत्र संन्यासियों का नहीं होता। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के इस लेख का इतना ही अभिप्राय है। इसमें गृहस्थ विद्वानों के अभाव में लोगों के अग्निहोत्रादि शुभ कर्म कराने का निषेध नहीं है। वैदिकधर्मो गृहस्थ विद्वानों के अभाव में अपने जीवनकाल में महृषि स्वयं अनेक स्थानों पर अग्निहोत्र और यज्ञोपवीतसंस्कार जाति वेदोक्त नामों का अनुष्ठान करते-कराते रहे हैं।

सात्यार्थप्रकाश २२वाँ संस्करण पृ० ८२ पंक्ति १३-१४ में महाराज-पूर्वपक्ष के ध्यान का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि—**वेदिकवेदबंध कर्मणिः**—मनुजी ने वैदिक कर्म जो धर्मयुक्त सत्यकर्म हैं, संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है।

ईश्वरोपासना एवं अग्निहोत्रादि वेदोक्त कर्म ही धर्मयुक्त सत्यकर्म हैं इसलिए वे और इसी प्रकार के अन्य वेदादि सत्कार्यों के अध्ययनाभ्यास तथा धर्मोपदेश जैसे पवित्र कार्यों के करने में संन्यासी का गौरव बढ़ता है और यज्ञो-बुद्धि भी होती है।

अतः यदि साधन जुटते हैं तो संन्यासी को यज्ञानुष्ठान करने-कराने में शास्त्र का कोई विधान बाधक नहीं है, परन्तु अग्निहोत्रादि शुभ कर्म में संन्यासी गृहस्थ विद्वानों के अभाव का पुरस्कार है इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, अतः विधिविधान के अल्पेकानि मूढोभ्य गृहस्थ विद्वानों की उपस्थिति में संन्यासी का तटस्थ रहना ही अच्छा है, तथा उनके आशङ्क पर उस कर्म में अनुरूप सहयोग देना संन्यासी के लिए मोक्ष भी बात है। संन्यासी की उपस्थिति में विद्वानों के सरकार का गृहस्थ ध्यान रहे।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के इस प्रमाण में संन्यासी का गृहस्थों की तरह दैनिक यज्ञ नहीं होता, यही बात तो कही गयी है। संन्यासी

यज्ञ न कराए, ऐसा लेख तो आजतक कहीं देखने में आया नहीं। संन्यासी यज्ञ करे या न करे यहाँ चर्चा इस विषय की नहीं, जधिलु यहाँ पर विचार यह हो रहा है कि यज्ञ-यागादि कराये या न कराये? अस्तु, यज्ञ एक शुभ कर्म है, पवित्र कर्म है, लोकोत्कारक कर्म है, ईश्वर द्वारा उपदिष्टकर्म है, इसलिए ऐसे शुभ, पवित्र, श्रेष्ठतम लोकोत्कारक सत्यधर्माचरणस्य यज्ञ के कराने में संन्यासी के लिए कोई शास्त्र-बन्धन बाधक नहीं है।

आसक्ति-संन्यासी के लिए भी बुरी है और गृहस्थी के लिए भी, इससे दोनों को ही समानरूप से बचना चाहिए। □

आहुति के लिए 'स्वाहाकार' का प्रयोग

—स्वामी मुनीश्वरनाथजी तीर्थ

प्रश्न—पारायणपत्रों में मन्थान्त में स्वाहा जाने पर उसे मन्थान्त समझकर आहुति के लिए पुनः स्वाहाकार का प्रयोग करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—ऐसा करना महर्षि श्यामन्द सरस्वती एवं श्रोत और गृह्यसूत्रों के विपरीत है।

महर्षि ने संस्कारविधि में यजुर्वेद, अथर्ववेद, मन्त्रब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, कात्यायनश्रौतसूत्र, आश्वलायनगृह्यसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र एवं शौभिलगृह्यसूत्र के २५० के लगभग ऐसे मन्त्र संग्रह किये हैं, मूल ग्रन्थों में इनके अन्त में 'स्वाहा' शब्द पड़ा गया है, क्योंकि श्री महाराज यह जानते थे कि—

१. स्वाहाकारप्राग्ः षष्टं शब्दश्च प्रदानार्थः ।
२. स्वाहाकारः षष्टकारेण वा वेद्येभ्यो हविः प्रदीयते ।
३. स्वाहाकारविधानमविहितस्वाहाकारेषु प्रदानेषु ।

सावरभाष्ये ८।१।५।१७ तथा १०।८।१०

(दृष्टव्यं सोमांसाकोष, सातर्षा भाव, पृ० ४८८५ पर स्वाहा शब्दार्थ)

(१) स्वाहा मन्त्र तथा षष्टं मन्त्र हविप्रदानार्थक है; (२) स्वाहाकार और षष्टकार से यज्ञों में देवों के लिए हवि दी जाती है (३) जिन मन्त्रों के अन्त में स्वाहाकार उपदिष्ट नहीं हुआ है उन्हीं के अन्त में स्वाहाकार का विधान है।

यतः संस्कारविधि में उद्धृत यजुर्वेद एवं अथर्ववेदादि ग्रन्थों के सम्बन्ध मन्त्रों के अन्त में स्वाहा मन्त्र का प्रयोग आहुति देने के लिए ही हुआ है, इसीलिए महाराज ने तसत् स्थलों पर प्रयुक्त मन्त्रों के अन्त में यह गये स्वाहाकारों के बाद पुनः स्वाहाकार का प्रयोग नहीं किया और न ही किसी विनियोजक पुत्रीयार्थ ने ऐसा किया है।

अब हम श्रोतसूत्रों, गृह्यसूत्रों एवं महर्षि श्यामन्द सरस्वती के संस्कारविधि ग्रन्थ के कतिपय प्रमाणों द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न

करेंगे कि स्वाहा के पशुवात् पुनः स्वाहा का प्रयोग अशुद्ध है ।

अनुष्ठोममाने अग्निहोत्र, यजुषः, यज्ञिनाहोम यथा महिला स्वाहाकार (विद्यारायण यज्ञ) आदि इत्येक कर्म में अन्न के जाँद, मध्य तथा अन्न में पड़ा गया स्वाहाकार आहुतिप्रदानार्थे होता है । इसलिए जिन मन्त्रों के अन्न में स्वाहाकार नहीं पड़ा गया है, उन्हीं के अन्न में अतिरिक्त स्वाहा मध्य का उन्धारण करके आहुति देने का विधान किया गया है । यथा—

सन्धाने स्वाहाकारः ॥—योभिलगुह्यगुप १।८।२२

भट्टनारायणवृत्ति—

सन्धाने अन्नोऽन्नानं सन्धानस्तस्मिन् सन्धाने स्वाहाकारो प्रवृत्तश्च इति वाक्यभेदः । अधिकार्याद् होम-सन्धाने एव न तु जवादिष्वपीति । कुतः स्वाहाकारः प्रदानार्थत्वाद् हविस्तस्य चाध्वंस्यान्नाविद्धेनेव कुतश्चात् । द्वितीयस्याऽऽन्नात्प्रवृत्तत्वेन स्वात् ।

यत्र सन्धास्यादौ स्वाहाकारः यथा 'स्वाहासवर्धभिः परिधीयन्व'—यजु० २७।१३ इति, तथापि नेवान्ते स्वाहाकारः स्वान् । तुस्यात्वात् कारणात् तथापि स्वाहाकारेणैव हविः प्रदानं कृत्वा मन्त्रं सदाप्रसंभेत्, एवमर्पत्वात् तस्य । तथा धोक्तम्—

स्वाहां कुर्यान्नि साधाने न संव जुहुयाद्द्विः ।

स्वाहाकारेण हृत्वाग्नी परश्चामन्त्रं समापयेत् ॥

—सर्वप्रदीप २।७।१४

भावार्थ—वृत्ति में दो बातें नहीं गई हैं । पहली—होममन्त्रों के अन्न में स्वाहाकार का प्रयोग (उन्धारण) करके आहुति दायनी चाहिए । उनमें भी उन्हीं मन्त्रों के अन्न में स्वाहाकार का प्रयोग करना चाहिए जिनके अन्न में महिला में स्वाहाकार नहीं पड़ा है । जिन मन्त्रों के अन्न में महिला (विद) में स्वाहाकार पड़ा गया है उनके अन्न में आहुति देने समय पुनः स्वाहाकार का उन्धारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वाहाकार हीनप्रदानार्थे पड़ा जाता है । हीनप्रदान-कण एव प्रधीतन की सिद्धि आन्नात् (विद) में पड़े-गये स्वाहा मध्य में ही-ही जाने से दूसरा स्वाहा पद अवर्धक हो जाएगा ।

दूसरी बात यह है कि जहाँ मन्त्र के जाँद में स्वाहाकार पड़ा गया

है वहाँ भी अन्त में स्वाहाकार का प्रयोग नहीं होना चाहिए। कारण एक-सा है। इसलिए ऐसे स्थलों में भी आदि में पहले स्वाहाकार से आहुति देकर शेष मन्त्र का पाठमात्र कर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में कात्यायनप्रणीत कर्मप्रदीप में ऐसा विधान है कि—आदि में स्वाहाकारवाले मन्त्र के अन्त में पुनः स्वाहाकार पद का उच्चारण करके आहुति नहीं देनी चाहिए अपितु आदि के स्वाहाकार से आहुति देकर पश्चात् मन्त्र पूरा पढ़ देना चाहिए।

इस प्रकार मूत्र में एक तो जिन मन्त्रों के अन्त में स्वाहा पद संहिता में ही पढ़ा गया है उन मन्त्रों के अन्त में आहुति के लिए पुनः स्वाहाकार के उच्चारण का निषेध किया गया है, और दूसरे, जिन मन्त्रों के आदि में स्वाहा पद उपलिप्त है उन मन्त्रों के आदि में पहले मन्त्रे स्वाहाकार से आहुति देकर शेष मन्त्र का पाठमात्र कर देना चाहिए। मन्त्र के अन्त में पुनः स्वाहाकार का उच्चारण करके आहुति नहीं देनी चाहिए।

वनु—यजुर्वेद अध्याय ४ मन्त्र ६ के आदि में, मध्य में तथा अन्त में भी स्वाहाकार उपलिप्त हुआ है। इसकी आहुति देने का प्रकार क्या होगा ?

उदाहरणरूप में—मूत्र मन्त्र का पाठ इस प्रकार है—

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहीरोरन्तरिभ्यात् ।

स्वाहा सावापृषिवीर्यां स्वाहा सातावारभे स्वाहा ॥

इस मन्त्र से आहुतियाँ यजु० ३२।१ मन्त्र के अनुसार देनी चाहिए। वहाँ महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ने मन्त्र में आये प्रत्येक स्वाहाकार से आहुति देने का विधान किया है। नासिकवासी पं० भी अन्नासास्त्री वारे अपने 'संहिता स्वाहाकार प्रदीप' में लिखते हैं कि—

यत्र तु मन्त्रमध्ये स्वाहाकारः तत्र तु तस्मिन्नेव स्वा-
हान्ते होमः पश्चात् मन्त्रसमाप्तिः । न तु मन्त्रान्ते
स्वाहाकारः । —भारतार्णपरिच्छेद पृ० २३१

अहाँ मन्त्र के मध्य में स्वाहाकार है वहाँ उसी स्वाहाकार से होम अर्थात् आहुति देनी चाहिए, पश्चात् मन्त्र समाप्त करना चाहिए। मन्त्रान्त में पुनः स्वाहाकार पढ़कर आहुति नहीं देनी चाहिए।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द और वारे सास्त्री के अनुसार—

१. स्वाहा यज्ञं मनसः ।

२. स्वाहा उरोरन्तरिक्षात् ।
३. स्वाहा सावापुष्विषीभ्याम् ।
४. स्वाहा वातावारभे ।

इस रीति से चार आहुतियों के पठनात् एक स्वाहाकार और खेप रह जाता है। इसके सम्बन्ध में पाट्यायनश्रौतसूत्र में इस प्रकार विधान किया है कि—

स्वाहाकारेणोत्तराम् ॥—ना० श्री० सू० ३।७।८

वात—उत्तराम् आहुतिकेवलेन स्वाहाकारेण जुहुवादि।वर्धः ।

अगनी आहुति केवल स्वाहाकार में देवे। कहना यह है कि यह अगनी आहुति 'ओ३म् स्वाहा' ऐसा उच्चारण करके देनी चाहिए।

प्रसिद्ध वैदिक शीघ्रपरीशय बाण्ड सावनीजी के अभ्यर्तु हमारें मुद्रणमें पूज्यपाद पं० श्री दिगम्बर वामुदेव नेत्रे आश्री ने हमें अध्ययन-काल में अनुष्ठान का यही प्रकार बतवाया था।

इसी प्रकार यजुर्वेद के अरण्य १०६ मन्त्रों में आदि में अवधा मन्त्र में बनेक बार स्वाहाकार उच्यते हुआ है। उनके सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों के समान ही महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी संस्कारविधि प्रथम संस्करण पृ० १८८ पर ऐसा विधान किया है कि—

ज्व—स्वाहा प्राणैभ्यः साधिवर्तिकेभ्यः—इत्यादि मन्त्रों में बिना में होय करना। सो जहाँ-जहाँ मन्त्रों के बीच स्वाहाकार मन्त्र है वहाँ-वहाँ आहुति देना। जैसे स्वाहा प्राणैभ्यः साधिवर्तिकेभ्यः और वृषिर्भ्यः स्वाहा यहाँ दूसरे आहुति देना। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

ऐसा ही मन्त्रपथ और व्यवहार दूसरे बुद्धयुक्तकार भाचार्यों का है। महर्षि ने उद्धृत संस्कार श्री विधि के अनुसार ही तत्सु स्थलों पर मन्त्र के आदि तथा मन्त्र में आये स्वाहाकार में आहुति देने का विधान किया है। यथा—

वागधम्य संस्कार में यजुर्वेद अ० २० के मन्त्र २०, २२-३२ में २२ बार स्वाहाकार का पाठ होने से ४३ ही आहुतियाँ देने का विधान किया है। इसी प्रकार अन्वेषि में भी यजुर्वेद अ० ३२ के १ से ३ तथा १० से १३ इन सात मन्त्रों में ६३ बार स्वाहाकार का पाठ है, अतः इनमें ६३ ही आहुतियाँ देने का विधान किया है। इसी प्रकार दैनिक अभिहोत्र में मन्त्रों के बीच में उच्यते प्रत्येक स्वाहाकार में आहुति दी जाती है। एवंनेव—**अध्वरुणं यजामहे**—यजुर्वेद के इस मन्त्र

से दो आहुतियाँ दी जाती है। यजुर्वेद अ० १८ मन्त्र ३८ से ४३ तक के ६ मन्त्रों से विवाह-संस्कार में बारह आहुतियाँ दी जाती है। ये सब आहुतियाँ मन्त्रगत स्वाहाकार से ही दी जाती हैं। कहीं भी ऐसा देखने में नहीं आता कि मन्त्रपठित स्वाहाकार के बाद आहुति के लिए एक और स्वाहाकार पढ़ा गया हो। इसीलिए मन्त्र के अन्त में आये स्वाहाकार के बाद आहुति के लिए एक और स्वाहाकार का प्रयोग महर्षि दयानन्द और समस्त कर्मकाण्ड के वाङ्मय के विरुद्ध है।

हाँ, मन्त्र के आदि में उपदिष्ट स्वाहाकार को उस मन्त्र के अन्त में जे-जाने की रीति याज्ञिकों में है, यथा—स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः—में आचार्य लोग स्वाहाकार को अन्त में जे-जाकर—‘सोऽम् प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा—इस प्रकार पढ़कर आहुति दिलवाते हैं। महर्षि दयानन्दजी सरस्वती महाराज ने भी अन्त्येष्टिकर्म में स्वाहाकार को आदि से उठाकर अन्त में रखकर—सोऽम् प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा—इस प्रकार आहुति देने का विधान किया है।

□□□

